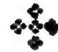
पिच्छि-कमण्डलु

[प्रथम भाग]



लेखक
विद्यानन्द मुनि



प्रकाशक
राजस्थान जैन सभा, जयपुर

ग्रन्थप्रदाता :—
श्री पूर्णचन्द्रजी जैन गोधीका जवेरी
चाकसू का चौक, जयपुर।

मूल्य एक रुपया

प्रथम संस्करण, ११००, सन् १९६४

मुद्रक :
अजन्ता प्रिन्टर्स
जयपुर

अन्तरङ्ग

'पिच्छि और कमण्डलु' कतिपय निबन्धों का संकलन है। मनुष्य की सहज रागात्मक प्रवृत्ति और कषायनिबन्धन को न्यून अथ च क्रमशः निःशेष करने के प्रयत्न करना स्व-परकल्याण मार्ग के पथिक मुनियों का स्वाभाविक कर्तव्य है। चारित्रमार्गी होने से उनकी वीतरागमुद्रा भी निर्मोह भूमियों की खुली पुस्तक है। आज का प्रबुद्ध समाज स्वभावतः साधुओं से कुछ विशेष अपेक्षा करने लगा है। वेष पर आस्था रखते हुए भी उसका अधिक ध्यान गुणसन्निवेष की ओर है। 'आहार' देता है तो 'आचार' लेना भी चाहता है। दर्शन करने आता है तो मन में द्वन्द्व बनकर मचलते हुए दार्शनिक प्रश्नों का समाधान भी आवश्यक मानता है। और यह प्रशंसनीय है कि मुनिसत्संग से समाज अपने जीवन को उदात्त और धार्मिक बनाने की ओर सावधान है। अभी, अधिक समय नहीं हुआ, समाधि-सम्राट् आचार्य शान्तिसागर महाराज जैसे महातपा मुनि और स्वर्गीय गणेश-प्रसादजी वर्णी जैसे आदर्श त्यागी को, जिन्होंने अपने तपःपूत जीवन से समाज को ही नहीं, जन-जन को सन्मार्गी बनाने और चारित्रसम्पन्न करने में अपूर्व प्रेरणा का निर्माण किया है। इस पंचम काल में वैसे आदर्श धर्मस्तम्भों की उपस्थिति, निश्चय ही समाज के पुण्योदय की सूचक है।

जैन द्वादशांग मुख्य रूप से दो बातें बताता है; आचार और विचार। विचार की सम्पूर्ण सम्पत्ति सम्यक्चारित्र के चरणों में समर्पित है। अतः विचारपूर्वक आचारमार्ग ही श्रमणपरम्परा का मूलाधार है। 'चारित्तं खलु धम्मो' इस संक्षिप्त सूत्र में द्वादशांग की सम्पूर्ण मणियां पिरोयी हुई हैं। श्रमण तीर्थंकरों ने जिस सर्वोदयी तीर्थ का निर्माण किया उसके तोरणद्वार पर स्थित सम्यक्त्व-शिला पर धर्मसूत्रों को लिखते हुए 'आचार और विचार' मात्र दो शब्द ही लिख कर सम्पूर्ण वाङ्मय पर 'रत्नमुहर' लगा दी। आचार का यह मार्ग सर्वश्रेष्ठ तो है ही, इस पर अक्षुण्ण पदविहार करना त्यागी के संयम और तपकी परा कोटि है। विरले ही महाव्रती इस गहन गम्भीर पथ पर अकम्प संचार कर पाते हैं। आचार्य गुणभद्र ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा है—'तपःस्थेषु श्रीमन्-मणय इव जाताः प्रविरलाः' सभी मणियों की संज्ञा 'मणि' नाम में समान है

किन्तु कुछ मणियां अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की होती हैं। इसी प्रकार 'साधु' पद सभी एतद्वेषधारियों के लिए प्रयुक्त होता है तथापि साधु की अन्वर्थ पदवी को यशस्वी करने वाले विरले ही होते हैं। 'मंगतराय' को भी कहना पड़ा—'दुर्लभ रत्नत्रय आराधन, दीक्षा का धरना दुर्लभ मुनिवर का व्रतपालन, शुद्धभाव करना ॥'

प्रस्तुत पुस्तक पिच्छि और कमण्डलु' इसी विचार-कुंकुम से लिखे हुए 'सम्यक्चारित्र' मार्गोपदेश के मंगल स्वस्तिक हैं। यही इसका अन्तरंग है।

विश्वास है कि ये निबन्ध संयमशाला के 'प्रवेशिका' वर्ग के लिए उपयोगी होंगे।

जयपुर,
वीर सं० २४९१

—विद्यानन्द मुनि

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक में सब मिलाकर १४ निबन्ध हैं और वे सभी परिश्रम से लिखे गये हैं। इनकी भाषा भी प्रांजल, उदात्त और प्रवाहमय है। मेरा ऐसा ख्याल है कि ये निबन्ध खासकर विद्वानों के काम के हैं। वे ही इनकी भाषा ठीक रूप से समझ सकते हैं। वैसे तो कोई भी शिक्षित इनका उपयोग अपनी ज्ञानवृद्धि के लिए कर सकता है।

इस पुस्तक का नामकरण 'पिच्छि और कमण्डलु' नामक निबन्ध के आधार पर किया गया है। किसी भी मुख्य निबन्ध या कहानी के आधार पर अपने संग्रह का नाम रखने की परम्परा आज चालू है। यह परम्परा ही पुस्तक के नामकरण के औचित्य का समर्थन करती है। अन्यथा इसका दूसरा भी कोई नाम हो सकता था। इस संग्रह के उक्त निबन्ध और 'निर्ग्रन्थ मुनि' नामक प्रबन्ध में मुनियों के आचार पर आवश्यक प्रकाश डाला गया है। इस दृष्टि से इस संग्रह को 'मुनियों की आचार संहिता' नाम भी दिया जा सकता था जब कि इसमें 'दीक्षाग्रहण क्रिया' नामक [illegible] भी है।

इसके निर्माता महाराज श्री मुनि विद्यानन्दजी अध्ययन एवं स्वाध्याय में बहुत रस लेते हैं और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग को पर्याप्त महत्त्व देते हैं। ज्ञानाराधना के प्रति उनकी यह जागरूकता इतर मुनियों के लिए वस्तुतः अनुकरणीय है। साधु जब तक विद्वान और वक्ता न हो तब तक वह अपने व्यक्तित्व से दूसरों को प्रभावान्वित नहीं कर सकता और न दूसरों के उपयोग का ही सिद्ध हो सकता है। मैं समझता हूं, इस पुस्तक का बारहवां 'वक्तृत्वकला' नामक निबन्ध इसी ओर इंगित करता है। जगत के अद्वितीय तार्किक आचार्य समन्तभद्र और भट्टाऽकलंकदेव जिनशासन का माहात्म्य अपनी लोकातिशायिनी वक्तृत्वकला के आधार पर ही अभिव्यक्त कर सके थे। आज के त्यागी, तपस्वी अगर इस तथ्य को हृदयंगम कर ज्ञानार्जन के लिए जुट जायं और किसी भी दूसरे झगड़े में न पड़ें, तो न केवल वे अपना कल्याण कर सकते हैं अपितु लोकोद्धार के पुनीत कार्य में भी सहायक सिद्ध हो सकते हैं। आचार्य

कुन्दकुन्द के 'आगम चक्खू साहू' और 'अज्झयणमेव झाणं' की ओर किसी भी गृहत्यागी एवं तपस्वी का ध्यान जाना जरूरी है। साधु के लिए जितना निष्कलंक चारित्रवान् होना जरूरी है उतना ही विद्वान होना भी आवश्यक है।

इस संग्रह के 'धर्म और पन्थ, नरजन्म और उसकी सार्थकता', 'समाज, संस्कृति और सभ्यता' 'चारित्र बिना मुक्ति नहीं' आदि अनेक निबन्ध सभी के पढ़ने योग्य हैं। इनके अध्ययन से सभी को प्रेरणा मिलेगी। इसलिए कि ये सब एक तपस्वी की कलम से प्रसूत हैं।

किसी २ निबन्ध में फिर से ऊहापोह करने की जरूरत है। उस ऊहापोह के बाद ही इसका द्वितीय संस्करण सम्पन्न होना चाहिए। इससे यह संग्रह और भी परिष्कृततर एवं परिष्कृततम हो जाएगा। किसी भी कृति की समुज्ज्वलता के लिए यह आवश्यक है कि उसकी कमियों की ओर ध्यान दिया जाए, और सम्भव हो तो उसका कायाकल्प कर दिया जाए।

महाराज श्री का यह पावन प्रयत्न सभी दृष्टियों से वांछनीय एवं प्रशंसनीय है। मुझे आशा है, यह निबन्धसंग्रह जनमानस को प्रबुद्ध करने में अवश्य सहायक होगा।

दि० जैन संस्कृत कालेज
जयपुर
२५-१०-६४

चैनसुखदास

प्रकाशकीय वक्तव्य

पूज्य मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज का यह 'वर्षायोग' जयपुर निवासियों के लिए अत्यन्त धार्मिक महत्त्व का रहा। विगत अस्सी वर्षों में ऐसी धार्मिक सभाओं का आयोजन पूर्व में नहीं हुआ, ऐसा वृद्ध लोग कहते हैं। महाराज श्री ने अमृत में डुबो-डुबो कर और मिश्री में घोल-घोलकर जैन-अजैन जनता को उपदेशामृत पिलाया। लोग छके पर थके नहीं। 'राजस्थान जैन सभा' ने अनेक जनप्रिय निबन्धों को 'लघु पुस्तिकाओं' के रूप में प्रसारित किया। वे लघु पुस्तिकाएं लोगों को अत्यन्त रुचिकर लगी। प्रस्तुत पुस्तक 'पिच्छि कमण्डलु' प्रथम भाग उनके कतिपय निबन्धों का संकलन है। महाराज श्री का चारित्रविशुद्धि अथवा अशिथिल चारित्र पर बहुत ध्यान है। 'पिच्छि कमण्डलु' में उनके सारगर्भित निबन्ध इसी ओर अवधान दिलाने वाले हैं। वे पवित्र जीवन बिताने के लिए परिष्कृत साहित्य के स्वाध्याय की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते रहे हैं। यद्यपि उनके प्रवचन जयपुर की जनता के हृदय में चिरकाल तक गूंजते रहेंगे तो भी लिखित साहित्य आंखों के सामने रहने से अधिक विचारस्थैर्य कारक होगा, ऐसी धारणा असंगत नहीं। प्रस्तुत पुस्तक 'पिच्छि कमण्डलु' के प्रकाशनव्यय को श्री पूरन चन्द्रजी जैन गोदीका जवेरी ने साग्रह स्वीकार किया है। आप धर्मानुरागी, उदारमना, सहृदय और मुनिभक्त हैं। इस उत्तम ग्रन्थ के लिए व्यय प्रदान करने पर 'सभा' उनका आभार मानती है। ये निबन्ध भी महाराज श्री के सार्वजनिक प्रवचनों में व्यक्त हुए वात्सल्य अंग के ही पुष्ट पोषक हैं और उन्हीं के समान धर्मदिशा को संकेत देने में सक्षम हैं। आशा है, पाठक इन्हें पढ़कर जीवन में उतारेंगे और सम्यक्त्व मार्ग को अपनाकर अपने को धन्य करेंगे।

रतनलाल छाबड़ा
मंत्री
राजस्थान जैन सभा, जयपुर

५-११-६४

अनुक्रमणिका



मंगल मंत्र

णमो अरिहंताणं । णमो सिद्धाणं ।

णमो आयरियाणं । णमो उवज्झायाणं ।

णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

मंगलोत्तमशरण पाठ

चत्तारि मंगलं । अरिहंता मंगलं ।

सिद्धा मंगलं । साहू मंगलं ।

केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं ।

चत्तारि लोगुत्तमा । अरिहंता लोगुत्तमा ।

सिद्धा लोगुत्तमा । साहू लोगुत्तमा ।

केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

चत्तारि सरणं पव्वजामि ।

अरिहंते सरणं पव्वजामि ।

सिद्धे सरणं पव्वजामि ।

साहू सरणं पव्वजामि ।

केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वजामि ।

'णवि देहो वंदिज्जइ ण विय कुलो ण विय आइसंयुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावयो होइ ॥२७॥'

—दर्शनपाहुड, आ० कुन्दकुन्द

'न तो देह की वन्दना की जाती है, न कुल की और न जाति सम्पन्न मनुष्य की। गुणों की वन्दना की जाती है। गुणहीन श्रमण हो अथवा श्रावक; वन्दनीय नहीं है। धर्म परीक्षा परिच्छेद १७ में लिखा है कि 'गुणैः सम्पद्यते जातिगुणध्वंसैर्विपद्यते। यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादरः परः॥' जाति गुणों से बनती है और गुणों के ध्वंस से मिट जाती है। अतः बुद्धिमानों को गुणों का समादर करना चाहिए।'

गु रु भ क्ति

गुरुस्नेहो हि कामसूः

गुरुभक्ति

'गुरु' शब्द का साधारण अर्थ है 'भारी'। गुरु और लघु इन परस्पर विलोम शब्दों से इसी अर्थ की प्रतीति होती है। तुला का जो भारी भागार्ध होता है वह दूसरे भागार्ध से अपनी गुरुता के कारण ही अधिक झुका रहता है क्योंकि उसमें कुछ अधिकता निहित होती है। संसार में सर्वत्र गुण से, धर्म से, ज्ञान से अथवा अन्य किसी वैशिष्ट्य से यह गुरुता सर्वत्र लघुता से भिन्न प्रतीत होती है। महाकवि कालिदास ने 'रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय'—अर्थात् जो जो रिक्त है, खाली है वह वह लघु होता है और जो जो पूर्ण है वही गुरु होता है। यहाँ 'पूर्णता' शब्द गुरु की ज्ञानगम्भीर अशेष महत्ता को एकपद में ही व्यक्त कर रहा है। तुला (तराजू) के पलड़े से भिन्न अर्थ में गुरु शब्द का प्रयोग 'शिष्य और गुरु' इस द्वैत में परिलक्षित होता है। इस अर्थ में आंशिक-भिन्नता होते हुए भी गुरु, आचार्य, उपदेष्टा, आदि शब्द समानार्थी हैं। यह 'गुरु' शब्द अपनी विशिष्ट गुणपरता से 'भावलिंगी' है। इसीलिए कोई शरीरावस्था से ज्येष्ठ होने पर भी 'गुरु' नहीं हो सकता। गुणों की उत्कृष्टता ही गुरुत्व की धात्री है। इसी आधार पर स्थविरत्व, पूज्यत्व-पद की प्राप्ति होती है। कहा है—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥

अर्थात् किसी के शिर के बाल श्वेत-पलित हो गये हैं इसी से उसे वृद्ध (गुरु) नहीं कहा जा सकता। यदि कोई शरीर-वय से युवा भी है किन्तु स्वाध्यायशील है, ज्ञानवृद्ध है तो उसे ही देव स्थविर (गुरु) कहते हैं।

एतावता यह स्पष्ट हुआ कि गुरुत्व अपनी भावलिंगिता में ही पूर्ण है। यह गुरुत्व सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से, अशेष कर्म ग्रन्थिविमोचन से, आगम-स्वाध्याय से, कठिन तपश्चर्या से और रागादि परिग्रह हान से तथा स्व-पर-प्रत्यय से व्यक्ति-विशेष में फलीभूत होकर उसे अभिवन्द्य उत्तम उच्चासन प्रदान करता है। जिस प्रकार शुक्लपक्ष में एक-एक कलाभाग को संचितकर चन्द्रमा पर्व तिथि तक सम्पूर्णता को प्राप्त करता है उसी प्रकार अशेष ज्ञानावरण का उन्मूलन कर 'गुरु' गुरुत्व को आसादित करता है। तभी वह भुवन में उच्चासन पर विराजमान होता है अन्यथा तो द्वितीया का क्षीण इन्दु जैसे पश्चिम के क्षितिज पर अल्पकाल के

लिए अपनी तनुकान्ति को लिये दिये अस्तंगत हो जाता है, उसी प्रकार अनधीत-शास्त्र, अनुपार्जिततपःसंयमाचार व्यक्ति भी पुरुषायुष भोगकर सामान्य दशा में ही अस्त हो जाता है। वास्तविक गुरु की महिमा तो सूर्य से भी अधिक है। सूर्य तो प्रतिदिन दिनप्रमाण समय में आलोक वितीर्ण कर पश्चिम की ओट हो जाता है किन्तु गुरुदेव तो रात्रिन्दिव अहरह जाग्रत् ही रहते हैं, कभी डूबते नहीं। सूर्य लोक के बाह्यान्धकार का नाश करता है तो गुरु बाहर-भीतर के सारे खोट रूपी तिमिर को सदा के लिए ही अपास्त कर शिष्य को विमल-विरज कर देता है। जैसे सूर्य के अस्त होते ही अन्धकार पुनः दिशाओं में व्याप्त हो जाता है, उस प्रकार गुरु द्वारा निरस्त किया हुआ अज्ञानरूप अन्धकार पुनः शिष्य की हृदय दिशाओं में अपना प्रसार नहीं कर पाता इस दृष्टि से गुरुपद सूर्य से भी उत्कृष्ट है। इसीलिए चिर उपकृत शिष्य निम्न शब्दों में गुरु के प्रति अपनी विनीत श्रद्धांजलि अर्पित करता है—

> अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
> चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

'गुरु' शब्द की निरुक्ति में कहा गया है कि 'गु' शब्द अन्धकारपरक है और 'रु' शब्द उसका निवर्तक है। इस प्रकार अज्ञानान्धकार का निवारण करने से ही 'गुरु' शब्द की साभिप्राय निष्पत्ति होती है। इस आशय का वह श्लोक है—

> 'गु' शब्दस्त्वन्धकारे च 'रु' शब्दस्तन्निवर्तकः।
> अन्धकारविनाशित्वाद् 'गुरु' रित्यभिधीयते॥'

जीवन का आरम्भ, उसकी शिक्षा-दीक्षा गुरुचरणों की उपासना से ही सफलता की ओर अग्रसर होती है। प्राणी को कृताकृतविवेक गुरु के सान्निध्य में ही प्राप्त होता है। गुरु का स्नेह और फटकार दोनों ही अशेष कामनाओं की पूरक तथा योग्यता की दात्री है। जिस प्रकार शूर्प (छाज, तितउ) से धान के तुष को फटक कर अलग कर दिया जाता है वैसे ही गुरु की फटकार से शिष्य के दोषसमूह अलग हो जाते हैं। गुरु संसार की उत्ताल-आन्दोलित समुद्राभ विषय-वासना-कषाय-बहुल तरंगों से कुशल नाविक के समान बचाता हुआ उस पार पहुँचा देता है अन्यथा अज्ञान की शिला पर बैठा मनुज डूब जाता है, निश्शेष हो जाता है। गुरु ही ज्ञान की चिन्तामणि शिष्य को प्रदान करता है जिसके प्रकाश में वह पथ-अपथ की पहचान कर अपना स्व-पर विवेक प्रशस्त करता है। गुरुदेव की आराधना के बिना प्राप्त ज्ञान सन्दिग्ध होता है, उसे 'इदमित्थम्' की निश्चय-

वाक्यता में आबद्ध नहीं किया जा सकता। कोई भी नेत्रवान् गुरु का लंघन नहीं करता। गुरु के प्रति भक्ति, उससे अधिगत आगम-विद्या का विनीत कृतज्ञता-ज्ञापन है, आभारों का आनृण्य है, विनम्र अञ्जलि है। मिट्टी के ढेले को उठाकर, कुम्भकार के समान, रत्नत्रितयवर्तिका से जगमग मणिदीप बना देने वाले सच्चे गुरु की कृपाओं से कभी उऋण नहीं हुआ जा सकता।

'पंच वि गुरवे' आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं गुरु पांच हैं। पंच परमेष्ठी ही वे पांच गुरु हैं। 'पंच गुरु चरण शरणो' पंच गुरुओं के चरण ही प्राणी के लिए शरण हैं, ऐसा आचार्य समन्तभद्र ने कहा है। कातन्त्रकार ने अढाई द्वीप में वर्तमान तीन कम नौ कोटि मुनीश्वरों को गुरुभक्ति से 'नमोऽस्तु' कहा है—

'गुरुभक्त्या वयं सार्धद्वीपद्वितयवर्तिनः।
वन्दामहे त्रिसंख्योननवकोटिमुनीश्वरान् ॥'

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पंच परमेष्ठी ही परम-गुरु हैं। युगे युगे भव्य जीवों ने इनकी उपासना कर स्वर्ग-अपवर्ग प्राप्त किये हैं। सम्पूर्ण पापों का प्रणाश करने वाला, सभी मंगलों का प्रथम मंगल 'पंच नमस्कार मंत्र' उक्त पांच गुरुओं का ही अचिन्त्यचिन्तामणिप्रभावी मन्त्र है।

शास्त्र में आचार्यों का लक्षण-निरूपण करते हुए कहा गया है—

'पंचधा चरन्त्याचारं शिष्यानाचारयन्ति च।
सर्वशास्त्रविदो धीरास्तेऽत्राचार्याः प्रकीर्तिताः ॥'

अर्थात् जो पाँचों आचारों का स्वयं पालन करते हैं तथा शिष्यों से आचरित (आचार पूर्वक पालित) करवाते हैं और जो सम्पूर्ण शास्त्रों के परिनिष्ठित विद्वान् हैं, धीर हैं उन्हें 'आचार्य' कहते हैं। सम्यक्त्वपूर्वक अट्ठाईस मूल गुणों को धारण करवाने वाले मन्त्रदीक्षा प्रदान करने वाले और सम्यक्चारित्र पथ पर नियोजित कर स्वर्गापवर्ग के क्षितिज चूलांकुरों को अंगण वेदीयित करने में सौविध्य प्रदान करने वाले आचार्य नित्य ही भव्यजनों के कल्याणकारी हैं। ऐसे अन्तर्बाह्य ग्रन्थिरहित आचार्यों को नमस्कार हो।

'दिशन्ति द्वादशांगादिशास्त्रं लाभादिवर्जिताः।
स्वयं शुद्धव्रतोपेता उपाध्यायास्तु ते मताः ॥'

जो किसी प्रकार का लाभ न चाहते हुए केवल लोक को शास्त्रप्रवृत्त करने की पवित्र भावना से द्वादशांग शास्त्रों का अध्यापन करवाते, हैं और स्वयं शुद्धव्रतों का पालन करते हैं, उन्हें 'उपाध्याय' कहते हैं।

'ये व्याख्यान्ति न शास्त्रं न ददति दीक्षादिकं च शिष्याणाम् ।
कर्मोन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेयाः ॥'

साधु वे हैं, जो न तो शिष्यों को शास्त्र पढ़ाते हैं और न दीक्षा प्रदान करते हैं। वे निरन्तर ध्यानावस्थित होकर कर्मों के उन्मूलन में समर्थ होते हैं और इस प्रकार अपने वास्तविक अर्थ में 'साधु' (साध्नोति आत्मनः समुद्धारं निष्पादयति स साधुः) पद को अलंकृत करते हैं।

न माता शपते पुत्रं न दोषं लभते मही ।
न हिंसां कुरुते साधुः न देवः सृष्टिनाशकः ॥

माता अपने पुत्र को शाप नहीं देती 'पृथ्वी दोषदूषित नहीं होती' देव सृष्टि का नाश नहीं करते और साधु कभी हिंसा नहीं करते। और भी—

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः ।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः ॥

साधुओं के दर्शनमात्र से पुण्यबन्ध होता है क्यों कि साधु तीर्थ के समान हैं। तीर्थ तो समय आने पर फल देते हैं किन्तु साधुओं की संगति से तुरन्त शुभ फल प्राप्त होते हैं। लोक में वन्दित ऐसे साधुओं को नमस्कार हो।

ये साधु अट्ठाईस मूलगुणों से युक्त होते हैं। किसी के प्रति द्वेष भावना नहीं रखते। पत्थर मारने पर भी फल देनेवाले वृक्ष के समान असद्व्यवहार करने वाले, दुर्जनों के प्रति भी क्षमा, कल्याण और उदार भाव रखते हैं। जैसे चन्दन-पादप कुठार के मुख को भी, छेके जाने पर सुरभित ही करता है उसी प्रकार ये साधु दुर्वचन बोलने वाले को भी सद्भाषित से कृतार्थ करते हैं। महाकवि बाण ने सज्जन-दुर्जन के स्वभाव का निरूपण करते हुए लिखा है—

'कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव ।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव ॥'

अर्थात् निरन्तर मल (मलिनता) उत्पन्न करने वाले खल अर्थात् दुष्टजन लोहे की बेड़ियों के समान कटु वचन बोलते हैं और शरीर में चुभते हैं, पीड़ा देते हैं। किन्तु मधुर-गम्भीर साधु-ध्वनि से पद-पद पर सन्तजन मणिनूपुरों की तरह सभी के मन को हरण करते हैं।

साधु के इसी स्पृहणीय भाव से सम्पूर्ण लोक उनकी ओर आकर्षित होता है, उनकी सत्संगति और अमृत-वाणी के लिए लालायित रहता है। किसी ने ठीक ही कहा है कि—

'चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमाः ।
चन्द्रचन्दनयोर्मध्ये शीतलः साधुसंगमः ॥'

निस्सन्देह लोक में चन्दन शीतल है और चन्द्रमा तो शीतरश्मि होने से उससे भी अधिक शीतल है। किन्तु जो चन्दन से तथा चन्द्रमा से भी अधिक शीतल है वह साधु की संगति है। क्यों कि, वह केवल गात्रशीतल करने वाले चन्दन और चन्द्र के समान बाह्य सुखदायिनी ही नहीं है अपितु अन्तरात्मा तक पवित्र भावों की शीतलता पहुँचाकर कल्याणकारिणी होती है। अतएव नीतिकार बारंबार कहते हैं कि—

'परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि नोपदिशन्ति ते ।
तेषां स्वैरकथालापा उपदेशा भवन्ति हि ॥'

सदैव सन्तों की ही सेवा करनी चाहिए, भले ही वे उपदेश (प्रवचन) न भी दें फिर भी वे शरीर मात्र से वाणी के बिना ही मोक्षमार्ग का निरूपण करते हैं 'मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं' उनके स्वरूप का स्वभाव है। उनकी यहच्छा शब्दावली में भी ज्ञान-बहुल उपदेश ही निकलता है। भला, गन्ना (इक्षु) मिठास के अतिरिक्त दे ही क्या सकता है ? पुष्प के पास सुगन्धि के अलावा और क्या है ? सूखे वृक्षों को हरा-भरा कर देना, वसन्त का यही तो नित्य धर्म है। सन्तजन प्रकृति से ही उद्विग्नता-गज के अंकुश होते हैं। आकुलता से तपते हुओं के लिए शीतल जलवर्षी मेघ होते हैं।

किन्तु एतादृश महाप्रभावी साधु का साक्षात्कार एवं उनकी पुण्य संगति सभी को, सर्वत्र नहीं मिल सकती। पुण्यों का उदय ही साधुदर्शन का निमित्तकारण होता है। कहा है—

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने ॥

प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नहीं होता, प्रत्येक गज से गजमुक्ता भी नहीं मिलती, प्रत्येक वन में चन्दन के वृक्ष नहीं होते और साधु भी सर्वत्र नहीं मिलते।

वे अपने वचन से, कर्म से, शरीर से निरन्तर उपदेश करते रहते हैं, सिखाते रहते हैं। उनके चरण कभी उन्मार्गगामी नहीं होते, वचन पर

मिथ्या-भाषणदोष नहीं आता, कर्म किसी राग-द्वेष से बाधित नहीं होते। शरत् ऋतु के तालाबों-से स्वच्छ, मोती-से उनके मानस को विकार का शैवाल स्पर्श नहीं करता। विश्वोपकार के लिए सर्वत्र विचरण करते हुए भी वे आकाश के समान निर्लेप रहते हैं। धन-वैभव, नगर-प्रान्त, हिरण्य-पशु-भवन और असंख्य जन संख्या की विपुलता से जो विशिष्टता राष्ट्र को उपलब्ध नहीं होती उस वैशिष्ट्य के ये साक्षात् अवतार होते हैं। विना हंसों के जैसे मानसरोवर शोभारहित है, विना इन्दु के जैसे रात्रि शोभायमान नहीं होती उसी प्रकार विना साधुओं के देश शून्य रह जाता है। प्रभात के समय निष्प्रभ हुए चन्द्रमा के समान फीका-फीका रहता है। सच्चे साधु ही उसके ज्ञान-विज्ञान समुल्लसित सूर्य होते हैं। वे गुरु हैं, उपदेष्टा हैं, लोक को सन्मार्ग दिखाने वाले हैं। जैसे दिनकर की उपस्थिति में अन्धकार नहीं फैल सकता, उसी प्रकार उन साधुओं (गुरुओं) के रहते देश में अधर्म, अन्याय, अनैतिकता, उत्पीडन, जघन्याचरण, और पाप नहीं आ सकता। सम्यग् ज्ञान-दर्शन और चारित्र के प्रतीक वे साधु घूम घूम कर लोक को प्रबोध देते रहते हैं। ऐसे महाप्रभावी, तपस्वी, कल्याणभवन के मणिस्तंभ गुरुओं को नित्य नमस्कार हो। कोटि-कोटि वन्दन हो।



नरजन्म और उसकी सार्थकता

भवेषु मानुष्यभवः प्रधानम्

नरजन्म और उसकी सार्थकता

जैन संस्कृति के अमरगायक आचार्य अमितगति कहते हैं कि 'भवेषु मानुष्यभवः प्रधानम्' संसार की चतुरशीतिलक्ष जन्मयोनियों में मनुष्य-जन्म सर्वप्रधान है, श्रेष्ठ है। मनुष्य के समान अन्य कोई योनि (पर्याय) नहीं है जिसे इतना बुद्धि का अमित भण्डार, ज्ञानका अक्षय चैतन्य, विवेक की इतनी निधि और बल-वैभव-सम्पन्नता का इतना समूह एक ही शरीरमें प्राप्त हुआ हो। इस दृश्यमान संसार में, संस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में जितना विकसित-समृद्ध मानव है उतना अन्य कोई नहीं। चाहे भौतिक उपादानों को देखिए अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र की गहराइयों में डुबकी लगाइए, मनुष्य जैसा तो मनुष्य ही रहेगा। अन्य प्राणी आजतक उसी पूर्वावस्था में हैं जैसे वे अनादिकाल में थे। उनके यथाजात शरीर, तिनकों के कुलाय, मिट्टी के वाल्मीक, गिरि-गुहाओं के आश्रय आज भी उसी रूप में हैं। किन्तु कल्पवृक्षों की छाया में पलनेवाला मनुष्य आज अणु-सभ्यता के युग में श्वास ले रहा है। वह पवनवेग से आकाश में सर्राटे के साथ उड़ता है, पानी में शार्क की तरह डुबकी लगाता है और इस पृथ्वी पर कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान की अन्तर-बाह्य विभूतियों के सम्पन्न वातावरण में सभी सुख-सुविधाओं के साथ जीवनयापन करता है। दिन प्रतिदिन उन्नति की ओर अग्रसर होता हुआ यह मानव अपने सम्पूर्ण विकसित चैतन्य से सभी प्राणियों से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध कर रहा है। इसी ने शरीर से भिन्न आत्मा को पहचाना है और स्व-पर विवेक से नर से नारायण-पद को प्राप्त किया है।

यह हुई नरजन्म की सिद्ध श्रेष्ठता और उसमें विद्यमान शक्तियों की विपुलता की सम्भावना। किन्तु केवल नरजन्म प्राप्त करने से, केवल भौतिक समृद्धि से मनुष्यपर्याय को सार्थक नहीं कहा जा सकता। उसे सार्थक और कृतार्थ करने के लिए अथक-अश्रान्त तपश्चर्या की आवश्यकता है। जिस प्रकार सुवर्ण अग्नितप्त होकर ही विशुद्धि प्राप्त करता है, मेंहदी के पत्ते पीसे जाने पर ही रंग उगलते हैं, चन्दन घिसने पर ही सुगन्धि देता है, धान्य कुसूल फटकने पर ही उपभोग्य होता है, उसी प्रकार मनुष्य जन्म भी ज्ञानाग्नि में तपकर, अपने 'सुवर्ण'

को प्राप्त करता है। इस संसार में जो कुछ श्रेष्ठ है, उसे पाने के लिए तपश्चर्या करना अति आवश्यक है। कहा है—

'यद् दुर्गं यद् दुरापं च यच्च दुर्धरतास्थितम्।
तत् सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥'

'अर्थात् जो कठिन है, दुर्लभ है, पहुंच से बाहर है वह सभी तपश्चर्या से मिल जाता है। क्योंकि, तप सबसे कठिन है, उसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता।

तप यम और नियम से किया जाता है। इन्द्रियों का संयम तथा खाद्य-अखाद्य, निद्रा-जागरण, वस्तु-अवस्तु तत्व-अतत्व इत्यादि में नियम रखना आन्तरिक और बाह्य तप के लिए आवश्यक है। ऐसा करने से शरीर और आत्मा संस्कारशील बनते हैं, उनमें, निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब ग्रहण के समान, पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति आती है। नहीं तो, जिस प्रकार तुषार से ढँका हुआ चन्द्रमा स्पष्ट दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार मलाछन्न आत्मा पर ज्ञान प्रतिफलित नहीं होता। नीतिकारों ने भी कहा है—

'आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।' पशुओं में तथा मनुष्यों में खाना, पीना, सोना, उठना, रति-विलास करना ये सब तो समान ही हैं। एतावता यदि मनुष्य अपने इन पशु-गुणों में विशिष्ट है तो उसे वास्तविक अर्थ में मनुष्य नहीं कहा जा सकता।

निगोद से निकलकर मनुष्यपर्याय प्राप्त करना बहुत कठिन है। कहा है— 'कर्मयोग से नरगति लहै'। कभी किसी शुभ कर्म का निमित्त मिल जाता है तो मनुष्यगति में जन्म होता है। इस मनुष्य-योनि के लिए देवता भी तरसते हैं। क्यों कि—

'मणुव-गई ए वि तओ मणुव-गई ए महव्वदं सयलं।
मणुव-गई ए झाणं मनुव गई ए विणिव्वाणं॥'

—कार्तिकानुप्रेक्षा

मनुष्यगति में ही तप होता है, मनुष्यगति में ही समस्त महाव्रत होते हैं, मनुष्यगति में ही ध्यान होता है। और मोक्ष की प्राप्ति भी मनुष्यगति में ही होती है। 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। इस मनुष्ययोनि में ही आत्मा का विवेक होता है और स्व-परका ज्ञान मिलता है।

यह सर्वांगपूर्ण, मनोहर, ज्ञानविज्ञानसम्पन्न नरजन्म बाह्य-आन्तर-चिन्तन धाराओं के भेद से दो भागों में विभक्तिमान् है। एक भाग इसका भौतिक है और दूसरा आत्मिक। भौतिक-पदार्थों के प्रति आसक्ति की अधिकता से तथा आत्मिकजगत् के इन्द्रियसन्निकर्षबाह्य अथ च सूक्ष्म होने से यह प्राणी कभी कभी इस दृश्यमान स्थूल जगत् को ही साध्य मानकर इसीमें डूब जाता है और—

'बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणीरत रह्यो।
अर्द्धमृतकसम बूढापनो कैसे रूप लखे आपनो॥'

—छहढाला १४

पं० दौलतराम के इस सुभाषित के अनुसार क्रीडा-भोग और रोग में फंसकर आत्मज्ञानशून्यदशामें ही प्राणपरित्याग कर परलोक गमनकर जाता है और वह रत्नपक्ष, जिसे जानना ही मनुष्य जन्म की सार्थकता है, उससे अविज्ञात रह जाता है। मनुष्य जब विषयों के पीछे इस श्रेष्ठ भव को लगाता है तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई मूर्ख कोदों की खेती कर उसके चारों ओर कपूर की बाड़ लगाता हो, लाख (लाक्षा) तपाने के लिए चन्दन की लकड़ी फूंक रहा हो, अथवा पंक को उजालने के लिए केसर का मिश्रण कर रहा हो। क्यों कि, वास्तव में जिस शरीर को हम सर्वस्व मानकर भौतिक उपादानों का अम्बार लगाकर इसकी सुन्दरता, कोमलता और चारुता को अक्षुण्ण सुरक्षित रखना चाहते हैं वही शरीर जर्जर बुढापा आने तक शिथिल हो जाता है। इसमें विकार आजाते हैं जिससे आंख, नाक, कान, मुंह, दांत और सभी इन्द्रियां निर्बल, निष्क्रिय हो जाती हैं। मन की आज्ञा को तन अस्वीकार कर देता है। अपने ही घर में तन और मन में द्वंद्व खड़ा हो जाता है। मन को वे युवावस्था के दिन स्मरण हो उठते हैं जब वह इशारा करता था और तन दौड़ पड़ता था। आज मन अंकुश मारता है और तन मुर्दा मांस के समान निष्क्रिय होकर उसकी बात नहीं सुनता है। यह मन तृष्णा का मित्र है, वासना का सहचर है, कुपथ का सखा है और मिथ्यात्व का किंकर है। यही मनुष्य को मृग-तृष्णा के कान्तार में भटकाता है। रूप की छलना में भरमाता है, माया के महालयों में पहुँचाता है। नीतिकार कहते हैं—

'जीर्यन्ति जीर्यतः केशाः दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीर्यतीन्द्रिय-संघातस्तृष्णैका तरुणायते'—

अर्थात्, जब शरीर वृद्ध हो जाता है तो सिर के केश सफेद हो जाते हैं, दांत गिर जाते हैं जिससे मुंह पोपला होकर विद्रूप हो जाता है, कुछ खा-पी नहीं सकता।

कि बहुना, सारी इन्द्रियाँ जीर्ण हो जाती हैं किन्तु तृष्णा वैसी ही तरुण बनी रहती है। इस तृष्णा का क्षय नहीं होता। कालिदास ने तभी तो 'वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम्'—राग रखने वालों के मनमें वनमें भी दोष उत्पन्न हो जाते हैं—कहा है। अतएव 'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'—जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं उसी की प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि किसी विषय पर एकाग्र प्रतिष्ठित होती है। नहीं तो दीवाल घड़ी के 'पैण्डुलम' के समान इधर-उधर डोलायमान रहती है। ऐसे मनुष्य अव्यवसायी होते हैं और उनकी इच्छाएं आटा छालनेवाली 'चालनी, के समान सहस्रमुखी-अनन्त छिद्र वाली होती है। जिससे वे किसी एक विषय पर स्थिर होकर विचार, चिन्तन, तथा निर्णय नहीं कर सकते। यह करूं, वह करूं इसी ऊहापोह में जिन्दगी बीत जाती है। ऐसों पर तरस खाकर किसी नीतिकार ने खूब कहा है—

'करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तया।
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम्॥'

करूंगा, करूंगा, करूंगा-इस प्रकार ऊहापोह करते करते दीर्घसूत्री मनुष्य भूल जाता है कि कभी मरना भी पड़ेगा। अर्थात् 'निकला हुआ श्वास फिर लौटे या नहीं लौटे' यह मानकर अपने को निश्चय बुद्धि से कार्य संलग्न करने वाला ही जीवन संग्राम में विजयी होता है। क्योंकि—

'न कश्चित् कस्य जानाति किं कस्य श्वो भविष्यति।
अतः श्वःकरणीयानि कुर्यादद्यैव बुद्धिमान्॥'

नीतिकार कहते हैं—'श्वःकार्यमद्य कुर्वीत'—जिस कार्य को तुम कल करना चाहते हो, उसे आज ही कर डालो क्योंकि बीच समुद्र में चलती हुई नौका का भरोसा नहीं और 'ना जाने, इस श्वास को आवन होय न होय'—इस श्वास का भी विश्वास नहीं। शुभ कर्मों की ओर प्रेरणा करने वाले निम्नलिखित श्लोक में यही दर्शाया गया है—

'अंजनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य च संचयम्।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्यात् दानाध्ययनकर्मभिः॥'

अर्थात् काजल की डिबिया में से अत्यन्त स्वल्प कज्जल लेकर आंखों में आंजते हैं किन्तु देखते हैं कि थोड़ा-थोड़ा लेने पर भी एक दिन वह काजल की डिबिया खाली हो जाती है। और चीटियां अपने परिश्रम से वल्मीक शिखर उठाती

हैं तो कण-कण जुड़ते-जुड़ते वह मिट्टी का वल्मीक कई हाथ ऊंचा उठ जाता है। तात्पर्य यह है कि थोड़ा-थोड़ा भी किया हुआ कार्य अपना महाप्रभावी परिणाम उपस्थित करता है अतः बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह दान देने में, स्वाध्याय करने में तथा अच्छे कर्मों में लगा रह कर अपने दैनिक जीवन को सफल बनावे। हितोपदेश में लिखा है—

'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥'—

जब मनुष्य को पढ़ना हो अथवा धन कमाना हो तो 'मैं अजर-अमर हूं' इस भावना से कार्य प्रवृत्त हो किन्तु जब धर्म का आचरण करना हो तो सोचे कि 'मृत्यु मेरे केशों को पकड़ कर खड़ी हुई है, अर्थात् 'शुभस्य शीघ्रम्' धर्म के विचार उठें, तो तुरन्त उन्हें कार्यान्वित करे, विलम्ब न करे।

'भिन्नरुचिर्हि लोकः' यह लोक भिन्न २ रुचिवाला है। 'कोई लठधारी कोई मठधारी' सब अपने अपने इच्छानुकूल व्यापारों में लगे हुए हैं। कहते हैं—

'काहू के वैराग्य-रुचि काहू के रुचि नीति।
काहू के शृंगार-रुचि जुदी-जुदी परतीति॥'

इस संसार में किसी को वैराग्य की ओर रुचि है, किसी की नीति पर रुचि है, कोई शृंगार से प्रेम करता है, इस प्रकार भिन्न भिन्न परिणति जीव की होती हैं। कोई सरल मार्ग से चलना पसन्द करता है तो किसी को सांप की टेढ़ी चाल अच्छी लगती है। कोई सीधे हाथ से नाक पकड़ता है किसी को द्रविड प्राणायाम रुचिकर होता है। कोई कनक-कामिनी में सुख मानता है तो कोई वन-गिरिगुहाओं में स्वच्छन्द विचरण की अभिलाषा रखता है। कोई एकान्त में रमण करता है कोई समूह में प्रसन्न होता है। कोई राग में, कोई वैराग्य में अपने २ स्वभावानुसार लगे हुए हैं। किन्तु संसार-कान्तार में उद्देश्यरहित होकर इस प्रकार भरमने-भटकने से इस मनुष्य नामधारी जीव की परिणति शुभ नहीं होती। कहते हैं—

'आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्द्धं गतं
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरंगचंचलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्॥

मनुष्यों की सौवर्षप्रमाण आयु मानी गई है। रात्रि में उसका आधा भाग चला जाता है। रहे ५० वर्ष, बाल्यावस्था और बुढ़ापा में आधा निकल जाता है और शेष बचा हुआ भाग रोग-दोष-दुःख और सेवावृत्ति में व्यतीत हो जाता है। इस प्रकार पानी की लहरों-से चंचलजीव, प्राणियों को सुख की प्राप्ति कहाँ ?

प्रश्न हो सकता है कि यह सुख क्या है ! वह समय जो निद्रा में व्यतीत हो गया, खाने-पीने में निकल गया, क्या उसे सुख नहीं कहा जा सकता ? सांसारिक सुख, स्त्रीभोग और वैभव से घिरे रहने को सुख क्यों नहीं माना जा सकता ? अतः सुख का निरूपण करना आवश्यक हो गया है। नीतिकारों ने कहा है कि जो परिणाम में सुखावह हो वही सच्चा सुख है। इस कसौटी पर विषय सुख नहीं ठहरते। क्योंकि वे आपातरम्य हैं। वे उन रंग-बिरंगी बाजार की मिठाइयों के समान हैं जो देखने में, चखने में सुन्दर और मधुर प्रतीत होती हैं किन्तु खाने पर अनेक रोग उत्पन्न करती हैं। वास्तविक सुख प्रतीत होता है विष के समान, किन्तु परिणाम उपस्थित करता है अमृतोपम। 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्'—जैसे कड़वी औषधि चखने पर अस्वादु लगती है किन्तु रोग का नाश कर सुख पहुँचाती है। जैसे गुरु, माता, पिता की सीख, उनके हितोपदेश सुनने में कानों को प्रिय नहीं लगते, किन्तु मनोयोग पूर्वक गुनने पर लाभप्रद होते हैं। सच्चे सुख की यही प्रतीति है कि वह निर्मल और अपरिच्छिन्न आनन्द की उपलब्धि कराता है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'सुख' शब्द का अर्थ होगा—सु=सुष्ठु खानि=इन्द्रियाणि यस्मिन् तत् सुखम्—जिसमें सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपरिसीम आनन्द की उपलब्धि हो, वही सुख है। वासना-जनित प्रतीयमान सुख में ऐसा नहीं होता। ऐसा सुख भौतिक नहीं हो सकता, आत्मिक-सुख ही उस कोटि का कहा जा सकता है। अतः भौतिक-परिग्रहसम्भार से प्रतीयमान सुख वास्तविक सुख नहीं है अपितु सुखाभास है, यह सिद्ध हो गया। क्योंकि, उसमें किसी न किसी इन्द्रिय की तृप्ति और विकलता बनी रहती है। अपूर्णता का भान होता रहता है।

वास्तव में जितने भौतिक सुखाभास हैं उनमें दुःख संविद्ध रहता है। देखिये भौतिक सुख-दुःख का मिश्रित रंगारंग रूप—

'नानी मरन, सुता जनम, पुत्रवधू-आगौन
तीनों कारज एक दिन भये एक ही भौन ॥

यह संसार विडम्बना देख प्रकट दुख खेद।
चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ न जानहिं भेद॥
—महाकवि पं० बनारसीदासजी

इसी आशय का संस्कृतश्लोक जो संसार की निरर्थकता का निर्भ्रान्त-निरूपण करता है, इस प्रकार है—

'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाणि स्थातुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतःपरम्॥'

अर्थात्, संसार के प्राणी प्रतिदिन यमराज के अतिथि हो रहे हैं किन्तु जो जीवित हैं वे निरन्तर यहीं बने रहना चाहते हैं। इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा? संसार की इस असारता पर कबीर कहते हैं—

'माली आवत देख करि कलियां करी पुकार
फूले फूले चुन लिये काल्ह हमारी बार।'

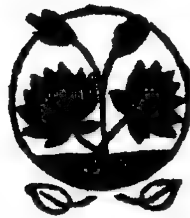
अर्थात् माली को आता हुआ देखकर कलियां पुकार करने लगीं कि बाग में जितने फूले हुए पुष्प थे उन्हें माली चुन ले गया और कल हमारी बारी आनेवाली है। इसलिए इस असार संसार में लिप्त रहकर मृत्यु को प्राप्त करने वाले व्यक्तियों से वे अच्छे हैं जो मुक्तिपथ देखने की उत्कण्ठा रखते हैं, सुलझे हुए मस्तिष्क से साधना के मार्ग पर प्रवृत्त होते हैं, तथा विलास के मृदु परिकरों को छोड़कर कठोर तपः कर्म में प्रवृत्त होते हैं।

साधना का वह मार्ग ही नर के भाग्योदय का पथ है, उसके सुख की 'गारण्टी' है। निर्वाण का अभय पत्र है। उसके नर पर्याय की सार्थकता है। वह मार्ग कौनसा है इसे निरूपित करते हुए पं० दौलतराम कहते हैं—

'यह मानुष-पर्याय, सुकुल, सुनिवो जिनवानी।
इहि विधि गये न मिले सुमणि ज्यों उदधिसमानी॥

मनुष्य पर्याय में जन्म, श्रेष्ठकुल की प्राप्ति और प्रसादरूप में भगवान् जिनेन्द्र की निर्दोष वाणी का श्रवण और उसपर आचरण, यदि ये सब यों ही निकल गये तो फिर इनका मिलना दुर्लभ है मानो सुमणि हाथ में आकर समुद्र में गिर गई।

इस निरूपण में मथे हुए दही पर जैसे मक्खन तैर कर ऊपर आजाता है उसी प्रकार दो बहुमूल्य सूचनाएं प्राप्त होती हैं। १. मनुष्य पर्याय सुमणि के समान है और अति दुर्लभ है। २. इसमें भगवान् जिनेन्द्र की वाणी का श्रवण करना ही इस पर्याय की सार्थकता है। जिस प्रकार अव्युत्पन्न प्रातिपदिक शब्द व्याकरण शास्त्र में 'अपद' ही कहा जाता है उसी प्रकार भगवान् जिनेन्द्र की शरण में आये बिना नरजन्म 'अपद, अपदार्थ, तुच्छ अथवा अकृतकृत्य' ही रहता है। आगम को सुनकर उसपर सम्यग् विवेकपूर्वक आचरण करके निष्ठावान् प्राणी अपने आत्मोत्कर्ष का यह पुनीत मार्ग पा सकता है। कहा है—'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्'—अपनी आत्मा का अपने ही पुरुषार्थ से उद्धार करना चाहिए इसे हीनबल नहीं मानना तथा विषाद में निमग्न नहीं करना चाहिए। क्यों कि, यही प्राणी का परम मित्र है। इसीके संवित् प्रकाश में जिनवाणी के रहस्य प्रकट होते हैं।



समाज, संस्कृति और सभ्यता

समाज, संस्कृति और सभ्यता

मनुष्य की शालीनता के तीन उपस्तम्भ हैं समाज, संस्कृति और सभ्यता। समाज उसका कुल है, संस्कृति उस कुलकी शालीनता का भव्य प्रासाद है और सभ्यता उसके युगानुसारी वैभव का उज्ज्वल मणिकेयूर है। समाज में वह पलता है, संस्कृति-क्षीर पीकर पुष्ट होता है और सभ्यता के अश्व पर आरूढ़ होकर समय के राजमार्ग पर सरपट दौड़ता है। समाज उसे अतिसहस्र वर्षों का संचित गौरव-मय ऐतिह्य-उपायन भेंट करता है, संस्कृति उसको आत्मधर्म का अंगराग लगाती है और सभ्यता की सुरभि से उसके प्राण आप्यायित होते रहते हैं। प्रत्येक उत्तम व्यक्ति अपने समाज के प्रति कृतज्ञ अथ च विनयी होता है, अपनी संस्कृति का जागरूक प्रतीहार होता है और सभ्यता का पालन कर अपने चारित्र दुर्ग को रक्षा-प्राचीर लगाता है। उसकी गति में समाजसत्ता की प्रभुत्वसम्पन्न शक्तियों की पदचाप उठती है, उसकी यति में संस्कृति के सनातन-स्वरूप की अविचल वज्र-प्रतिमा दिव्य-सौन्दर्य धारण कर मुसकिराती है। तो सभ्यता के समयसार सीमान्त इन्द्रधनुषी सौन्दर्य से उसे रंजित करते हैं। सहस्रशाख न्यग्रोध-सदृश उस विशाल व्यक्तित्व के लिए समाज आलवाल है, संस्कृति उसका धमनीप्रवाही क्षीर है और सभ्यता उसके पल्लव हैं। समाज व्यक्ति का शरीर है, संस्कृति उसका शील है और सभ्यता उसकी सामाजिकचर्या के रथपर फहराता केतुपटान्त है। प्रत्येक व्यक्ति पर ऋण है समाज का, संस्कृति का और सभ्यता का। ये तीनों धात्रियां, जिनकी क्रोड में जीवन पलता है, व्यक्ति से अपने दूध का निर्याण मांगती हैं। यदि किसी में सामर्थ्य हो तो दे अपना तन, मन और जीवन इनकी सम्पन्नता को जीर्णत्व से बचाने के लिए, उत्सर्ग करे अपना सर्वस्व, इन सबका सर्वस्व सुरक्षित करने के लिए और जिये कि जीवन निहाल हो जाए, संस्कृति वाहवाह कह उठे और सभ्यता के चूलपर रत्नकिरीट दमकने लगे। नहीं तो—

'परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो, येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्॥'

परिवर्तनशील इस संसार में कौन नहीं मरता और कौन नहीं उत्पन्न होता। मरने का, जीने का यह क्रम सतत प्रवाहिणी सरिता के समान अविच्छिन्न है।

राजमार्गों पर संबाध लगा है इन मातृगर्भ से विवश प्रसूत सद्योजातों का। जिनको चलना नहीं आता, बोलना, बैठना और तो क्या चुप रहना भी नहीं आता। यदि इन जननी के यौवनहारी निर्विवेक प्राणधनियों को हम मानव संज्ञा से विभूषित कर पशुजाति से श्रेष्ठ पदभागी बनाने का, मान बैठने का मान करें तो नीर-क्षीर विवेकी तुलाधार का सत्य मिथ्या की दुस्संगति से श्यामायमान हो उठेगा। आकाश में टिमटिमाने वाले कितने तारे हैं? अगणित, असंख्य शिवत्रदूषित उन ज्योति के अपत्यों को कौन जानता है। लोकाकाश के कोटर में ऐसे अनाम तारे सहस्रों हैं। पृथ्वी तक उनका आलोक नहीं आता। ऐसे ही अल्पप्राण जीवन जीने वाले खद्योतसार मानव समाज का क्या उपकार कर सकते हैं? शैशव में माता को भार रहे, यौवन में पृथ्वी के भार बने और काल के अतिथि हुए तो अपने हाथों में लोकजीवी पुरुषार्थों में से किसी एक के द्वारा लिखित प्रशस्तिपत्र भी नहीं ले गये। निकम्मे, जीवन भर जीते रहे किन्तु जीना नहीं आया। मरने गये तो मरना भी नहीं सीखा। अर्कपुष्प-से आंधी के साथ उड़े और पानी बरसा कि कहीं मिट्टी में दब गये। कुश-कास के समान उन्हें किसी कुशल किसान ने बोया नहीं यों ही मेघसम्पात की प्रथम सिहरन में निकल पड़े, निरुद्देश्य शिलीन्ध्र। उनके लिए धिक्कार भेजने को भी शब्द नहीं मिलते। इसीलिए बड़ी उपेक्षा से नीतिकार ने कह दिया—मृतः को वा न जायते—कौन बड़ी बात है कि ऐसे तुच्छ उत्पन्न हुए और मर भी गये। हाँ! 'स जातः'—जन्मा वह, जिसके उत्पन्न होने से वंश समुन्नति प्राप्त हो। समुद्र के क्षारगर्भ से उत्पन्न होकर चन्द्रमा ने अपनी कला-कला-समेधमान किरणावली से भुवनतल को कौमुदी महोत्सव का आमन्त्रण दे डाला। तुच्छ सीपी से उत्पन्न मोती अपने पानी से आब (आभा) का उपमान बन गया। पृथ्वी से कोयला निकला और सुवर्णादि धातुएं भी। धातुओं ने उसे 'रत्नगर्भा' नाम से विभूषित किया। एतावता यह स्पष्ट हो जाता है कि कुल को, समाज को, जाति और राष्ट्र को अपकर्ष या उत्कर्ष देने में उसके वंशधरों का महत्त्वपूर्ण भाग है। केवल गर्भभारभूत बालिशों को देखकर ही विवेकी कह उठते हैं—'मा स्म सीमन्तिनी काचिद् जनयेत् पुत्रमीदृशम्—' कोई माँ ऐसे पुत्र को उत्पन्न न करे। अतः परम उज्ज्वल, वंश-हंस को कीर्ति के क्षीरसिन्धु में अवगाहन देनेवाला मानव ही समाज का तिलक बनता है।

समाज की रचना एक दिन में नहीं होती। 'रोम' एक दिन में नहीं बना—यह कहावत सत्य है। जिस प्रकार एक विशाल वृक्ष बीजगर्भ से अंकुरित होकर

वर्षों पश्चात् स्कन्धशाखा-घनच्छायासमन्वित होता है, फलप्रसू बनता है, उसी प्रकार श्रमण समाज की रचना में अणु-अणु करके महान् व्यक्तित्वों का, उनके कृतित्व का, धर्म, संस्कृति, ऐश्वर्य-सम्पदाओं का, अमाप ज्ञानघन विद्वानों का, चारित्र शिरोमणि साधुओं का एक दीर्घकालीन पारम्पर्य नियोजित होता है। यही कारण है कि किसी भी समाज का वर्गीकरण करते समय हमारे मानस चक्षुओं के समक्ष उसकी विशाल भव्यता का एक विराट् चित्र उपस्थित हो जाता है। समाज अर्थात् एक विशाल जनसमुदाय जो अपने ऐश्वर्य के स्वर्ण किरीट पहने है, जो सत्ता के मणिकुण्डलों से शोभायमान है, ज्ञान-विज्ञान के गगनचुम्बी प्रासादों की सुदूरगामी अट्टालिकाओं से आपूर्यमाण है, जिसमें धर्मशील मुनि हैं, सम्पन्न साहू हैं, शास्त्रभारिल्ल विचक्षण विद्वान् हैं, नाना प्रकार के लोकानुबन्धी सम्बन्धों से मधुर मानव हैं। समाज शब्द की निरुक्ति करते हुए हमें उसके 'सम् अजन्ति' साथ चलते हैं—निर्वचन पर अधिक ध्यान देना होगा। अर्थात् एक समाज के प्राणी (मानव समूह) वे कहे जाएंगे जिनके सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदर्श समान हों, जो आचार-विचार व्यवस्था में अभिन्न हों, जिनके धार्मिक अनुबन्ध एक-से हों, जिनमें परस्पर रोटी-बेटी-व्यवहार होता हो। भारत और विदेशों में इसी प्रकार की समानताओं के आधार पर बड़े-बड़े जनसमूह अमुक-अमुक समाजों में विभक्त हैं।

समाज शब्द स्वयं अपने में विशाल अर्थ को समाहित किये हुए है। जैन-समाज, हिन्दू समाज, ब्राह्म समाज, आर्यसमाज इत्यादि किसी भी समाज का नामोल्लेख करते ही उसकी सारी परम्परा हमारे समक्ष हो उठेगी। क्योंकि विभिन्न समाजों की अपनी अपनी जीवन व्यवस्था है। जैन समाज के साथ सानुबन्ध व्यक्ति शाकाहारी है, यह उसकी अलिखित 'गारण्टी' है। महाव्रतों के पालन करने वाले अष्टाविंश मूलगुणधारी मुनि महाराजों का शास्त्र सम्मत धर्मोपदेश उसका आत्मखाद्य है, चारित्र मुख्य धर्म है। इत्यादि विशेषताएं उसे अन्य धर्मों से, समाजों से विभिन्नता, पृथक्त्व देती हैं। यह 'जैन समाज' के पदोच्चारणमात्र से अभिहित हो जाता है। एतावता व्यक्ति जन्म के साथ ही समाज की इन मर्यादाओं के साथ बँधा हुआ है। समाज का शील निरन्तर जागरूक रहकर प्रत्येक आनेवाले व्यक्ति को अपना अमृत स्पर्श देता है। परम्परा का उदात्त संबल देता है। इतिहास की उज्ज्वल गाथाओं की रत्नमाला से उसको कण्ठाभरण अर्पित करता है। धर्म के मानस्तम्भों का अभिषेक करते रहने की सत्प्रेरणा प्रदान करता है। सनातन

श्रमणकाल से चली आती हुई मर्यादाओं से समाज व्यक्ति का पाणिग्रहण करवाता है। धर्मोपदेश के विशाल लाभ, आत्मसाधना के शानदार महल, सामान्य मुनियों के पदस्पर्श से प्रसूत पावनविभूति समाज के प्रत्येक व्यक्ति को निर्विशेष रूपेण प्राप्त होती है। समाज और सामाजिक का पारस्परिक यह अनुबन्ध शाश्वत है।

संस्कृति और सभ्यता समाजभित्ति के वज्रलेप हैं। विना संस्कृति के समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। संस्कृति और संस्कार से सुसंस्कृत पुरुष समाज का भूषण है। संस्कृति प्राणिमात्र के अन्तःकरण में उपासीन आत्मधर्म का नाम है। युग युग में उत्पन्न होनेवाले समाज के सुप्रतिष्ठ आचारवान् व्यक्तियों के गहन-गभीर ज्ञानसागर के मन्थन से उत्पन्न शाश्वत मूल्यवान् मणिरत्नों का समुच्चय संस्कृति है। किसी विदेशी विद्वान् ने भारतीयों की नित्यव्यवहरणीय आचार संहिता की व्याख्या करते हुए कहा है कि मैं उदार भारतीयों के जीवनदर्शन की उन छोटी-छोटी बातों से भी बहुत प्रभावित हूं जिन्हें वे विना किसी विशेष परि-ज्ञान के प्रयोग में लाते हैं। उनका शील, सौजन्य, शिष्ट व्यवहार, आदर-सम्मान के उदात्त संभ्रम तथा अतिथि सत्कार इत्यादि कुछ इस प्रकार से रक्त के विन्दु-विन्दु में घुलमिल गये हैं जिनको उनके व्यक्तित्व से अलग करके नहीं देखा जा सकता। यद्यपि किसी विशेष जागरूकता से अनुबन्धित होकर वे ऐसा नहीं करते किन्तु फिर भी उनके सामान्य स्वभाव में वे इतने एकरूप हो गये हैं कि अंगुलि से संयुक्त नाखूनों के समान उनकी अभिन्नता सम्पर्क में आनेवाले को प्रतीत हुए विना नहीं रह सकती। और वस्तुतः विचारने पर हमें यह अनायास प्रतीत होगा कि भारतीय संस्कृति और वैदेशिक संस्कृति में यह अन्तर पृथ्वी-आकाश जितना है। उदाहरण के लिए पश्चिम की संस्कृति में पलने वाला मनुष्य तन, मन और जीवन को उनका चरम विकास देने का प्रयत्न करेगा और तन से बलिष्ठ, मन से स्वस्थ तथा जीवन में प्रफुल्ल रहने के लिए निरन्तर आवश्यक उपादानसंचय निमित्त श्रम करेगा। उसकी संस्कृति में 'खाओ, पीओ और मौज करो' के अतिरिक्त भौतिकता से अलग रहकर कुछ करणीय नहीं है। इसी के परिणामस्वरूप वह अपने शरीर को अधिक से अधिक सँवारेगा, घर को वैज्ञानिक सुखसुविधा के सम्भारों से भरेगा तथा शरीर को अत्यधिक क्रियाशील, सक्षम रखने के लिए आमिष-निरामिष पदार्थों को आग्रह से स्वीकार करेगा। अपने स्वीकारात्मक जीवन के प्रत्येक श्वासको वह अपनी परिभाषा में भरपूर जियेगा। किन्तु भारत की संस्कृति का प्राणी तन, मन और जीवन के ऊपर एक नित्य अविनश्वर आत्मसत्ता को मानकर तन-मन-जीवन

को इस त्रिपुटी को आत्मोपयोग में लगाएगा। ऐसा करने से जो मौलिकभेद भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति में आता है वह यह है कि पश्चिम में तन-मन और जीवन ध्येय हैं एतावता व्यक्ति का सारा श्रम तन-मन और जीवन का गुलाम होकर समाप्त (निःशेष) हो जाता है किन्तु भारतीय विचारधारा में तन-मन और जीवन साधन हैं आत्मा ही ध्येय है एतावता व्यक्ति जितने से आत्मसाधन होता है उतना तो उपर्युक्त त्रिक पर निर्भर करता है शेष प्रबल पुरुषार्थ तो आत्मा के उद्धार के लिए ही लगाता है। स्पष्ट है कि यहां की संस्कृति के परिणाम में जीवन्मुक्त मुनि-महर्षियों का निर्माण होता है और पश्चिम की संस्कृति में पलनेवाले तन-मन के दृढ़ भौतिक पाशों में फंसे रहकर जीवन का क्षय कर देते हैं। उनका जीवन भूतसर्गों से परिचालित होता है और हमारा आत्मजगत् भूत जगत् को अपनी स्थितप्रज्ञता के तीक्ष्णअंकुश के नीचे अनुशासित रखता है। एक संस्कृति का व्यक्ति शरीर पुष्टि (सेहत, हेल्थ) के लिए खाद्य-अखाद्य, पेय-अपेय सभी कुछ ग्रहण कर लेता है (क्योंकि उसकी संस्कृति में शरीरपुष्टि मुख्य है) तो दूसरा भारतीय विचारधारा का व्यक्ति हिंसा, अहिंसा, परमार्थ, विवेक, धर्म और आत्मपुष्टि के सम्यक् मूल्यांकन के पश्चात् ही किसी वस्तु को ग्रहण अथवा अस्वीकार करता है। यदि मद्य, मधु और मांस खा-पीकर उसका शरीर बलवान् और पुष्ट भी होता हो तो भी विवेक की तुला पर इन जघन्य पदार्थों को जांचने वाला किसी भी दशा में इन्हें ग्रहण नहीं करेगा। क्योंकि वह शरीर को कर्मों का परिणाम मानता है। यदि शुभ कर्म संचित रहेंगे तो पुनः उत्तम मानव शरीर मिलेगा और कर्म-धर्म करने का सदवसर प्राप्त होगा। किन्तु अनन्त पापानुबन्धी गर्हितपदार्थों का सेवन कर यदि कदाचित् अल्प समय के लिए शरीर को पुष्ट बना लिया जाए या बलशाली कर लिया जाए तो भी भवान्तर में उस संकल्पप्रभव आरम्भी पापानुबन्ध से जो अधम योनियों में परिभ्रमण करना होगा, उसकी कल्पना भी अति भयावह है। इसीलिए 'राग' को जीतना भारतीय श्रमण संस्कृति का मुख्य लक्ष्य है। विश्व में होने वाले समस्त दुष्कर्म, सारी राजनीतिक प्रपंच-घटनाएं, एक दूसरे को खा जाने, समाप्त कर देने की शतरंजी चाल और युद्ध के विनाशक उपकरणों के निर्माण की स्पर्धा-इन सब के मूल में मनुष्य की रागानु-बन्धमूला प्रवृति ही कारण है। आज ये सर्वाधिक मात्रा में बढ़ रही हैं इसका मूलहेतु है कि मानव में आर्य संस्कृति के स्थान पर असुर संस्कृति ने घर कर लिया है। इससे त्राण पाने का एकमात्र उपाय अहिंसामूलक श्रमण संस्कृति को सम्मान

देना है। बिना इसकी शरण गये दिनानुदिन वर्द्धमान भौतिक संस्कृति का व्याघ्र इस समस्त मानव जगत् को एक दिन समाप्त कर देगा। एतावता संस्कृति का परिचालन समाज करता है और समाज का संरक्षण संस्कृति करती है।

संस्कृति आत्मा के उत्थान की रत्नवेदी है। जितने महापुरुष, तीर्थंकर और यशस्वी हुए हैं वे अपने सांस्कृतिक आचरणों से ही हो सके हैं। उन्होंने संस्कृति के प्रतीक धर्म को अपना जीवनलक्ष्य बनाया और धर्म ने उन्हें अजर-अमर कर दिया। क्योंकि, 'धर्मो रक्षति रक्षित.' तुम धर्म की रक्षा करो, धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा। यह सनातन सिद्धान्त है। और जिन्होंने धर्म को, संस्कृति को नष्ट करने के उपाय किये, इतिहास साक्षी है, वे स्वयं नष्ट हो गये। धर्म तो आज भी मान-स्तम्भ के उच्छ्राय की तरह अडिग खड़ा है।

वह समाज, जिसके पास अतुल धन सम्पत्ति है और आकाश का स्पर्श करने वाले प्रासाद हैं यदि संस्कृति की विशाल परम्परा से शून्य है तो उस ऊंचे ताड़ के पेड़ के समान है जिस में छाया देने का सामर्थ्य नहीं। उसकी सम्पन्नता की त्रिभुवनविगाहिनी कीर्तिमाला तो उसकी संस्कृति है। संस्कृति के विना जीवन शून्य है, मार्ग अस्थिर हैं। कर्तव्यों के बोधपाठ अजाने हैं। संस्कृति मानव को मार्गदर्शन करती है। जीवन को अनन्त रत्नों से भर देती है। संस्कृति से सम्बद्ध व्यक्ति कभी उन्मार्गगामी नहीं हो सकता। इन्द्रियविकारों के वशीभूत होकर अपनी सनातन मर्यादा का त्याग नहीं करता। अपने सम्यक्त्वबोध के द्वारा वह ऐहिक-आमुष्मिक (लोक और परलोक) को सार्थक कर परमधाम प्राप्त कर सकता है। संस्कृति की व्याख्या में आज तक अनेक सूक्त कहे गये हैं फिर भी इस की सम्पूर्ण अवगाहना के लिए पर्याप्त शब्द मिलने कठिन हैं। अतिथिसत्कार, देवपूजन, सप्तव्यसनत्याग, सत्यपालन, ऋजु वृत्ति, अहिंसक आचरण, प्रभुभक्ति, वैर-कलह का त्याग, नितान्त भौतिकता को न अपनाना, इत्यादि सभी संस्कृतिमर्यादा में समाविष्ट हैं। संस्कृति का क्षेत्र विशाल-व्यापक है। संस्कृति ने न केवल मानव-जीवन को प्रभावित किया है अपितु शिल्प, स्थापत्य, कला और जातियों के शील को भी उसकी अमिट रेखा ने परिधि में लिया है। मूर्तियों को देखकर, अजन्ता-एलोरा की गुफाओं में उत्कीर्ण संगतराशों की शैली को पढ़कर, मोहन जो दरो और हड़प्पा में प्राप्त वस्तुओं को देखकर उनकी संस्कृति को पहचानने में हम भूल नहीं कर सकते। मन्दिरों का और मस्जिदों का निर्माण संस्कृतियों के द्वैत को दूर से ही सूचित कर देता है। कहीं कहीं संस्कृतियों के संगम के मधुर चित्र भी

देखने को मिलते हैं। पुराने जीर्ण खण्डहरों में निजी और सरकारी तौर पर होने वाली खुदाई (उत्खनन) से, उनमें प्राप्त होनेवाले अवशेषों से, संस्कृतियों की वय निर्धारित की जाती है। पर्वतों, गुफाओं और स्तम्भों पर प्राप्त शिलालेखों, उत्कीर्ण लेखांजलियों से संस्कृति के अतीतकाल का वैभव जाना जाता है। इस प्रकार के उपादानों से हम अपनी युगान्तरव्यापिनी दीर्घायुष्ट्वघोषणा को तुमुल करने का सत्साहस पाते हैं। मिट्टी के नीचे युगों से दबे पड़े ये अवशेष मुखर होकर हमें अपने जीवन के सहस्राब्द अर्पित करते हैं। संस्कृति संस्कारों के पुंज का नाम है, संस्कृति स्वस्तिक का थापा है जिस की गति में चतुर्मुख प्रगति का संकेत है। संस्कृति आरण्यकमुनियों की शान्त जीवनचर्या है। संस्कृति जैनेन्द्र मुद्रांकित साधु-महाराजों की पुनीत गाथा है। 'संस्कृति' इस एक शब्द में समाज की शालीन परम्पराओं के धर्म, इतिहास, कोष, व्यवहार, न्याय और अशेष ज्ञान-विज्ञान के लक्षाधिक पृष्ठों में अंकित शास्त्र समा जाते हैं। यह शब्द समाज के नैतिक आदर्शों की परिभाषा में लिखे गये सभी शब्दार्थों का आलम्बन कल्पतरु है। जो व्यक्ति सुसंस्कृत है, संस्कृतिसम्पन्न है वह अपनी विश्वसनीयता के लिए स्वयं प्रमाणपत्र है। संस्कृति का सेवक ही उदार, शिष्ट, धार्मिक और चारित्रसम्पन्न हो सकता है। जिस प्रकार श्वा धर्माचरण नहीं कर सकता, उसी प्रकार संस्कृतिविहीन व्यक्ति उत्तमक्षमा, दम, शौच, इन्द्रियनिग्रह प्रभृति उदार वृत्तियों का पालन नहीं कर सकता। जिस प्रकार करीरवृक्ष के पत्ते नहीं निकलते उसी प्रकार संस्कृति-रहित मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्वबोध नहीं होता। जैसे भुने हुए बीज कृषि योग्य नहीं रहते, उसी प्रकार संस्कारों से हीन व्यक्ति समाज में उत्तमता के उपलक्षण नहीं हो सकते। व्यक्ति अथवा समाज का चरित्र उसकी संस्कृति का दिग्दर्शन है। इसी प्रकार संस्कृति समाज की निर्माणशाला है। समाज संस्कृति का ऋणी है। वह इसको अपने शुभ आचरणों से उपोद्वलन देता है और संस्कृति समाज को संस्कारों की सुखद छाया में पुनीत जीवन देती है। परस्पर उपजीव्य-उपजीवी भाव से दोनों अपने को चरितार्थ करते हैं। संस्कृति का अंचल थाम कर विश्वभर में निर्द्वन्द्व विचरण किया जा सकता है। किन्तु संस्कृति विहीन-व्यक्ति कटी हुई पतंग के समान लुण्डमुण्ड होकर कहां गिरेगा, कहा नहीं जा सकता। संस्कृति आचार शास्त्र है, संस्कृति व्यवहार मार्ग है, संस्कृति अघमर्षण का सूक्त है। संस्कृति तुलसी का 'बिरवा' है, संस्कृति भगवान् महावीर की प्रतिमा है। संस्कृति पवित्रता का नामान्तर है। संस्कृतिधारी भौतिकता से परे आत्मजीवन को साधने

वाला तत्वज्ञानी है। जिसके पास पुनीत, उदार संस्कृति है, उसके पास संसार का द्रव्यकोष है। संस्कार सभ्यता के प्रशंसापत्र हैं। जब सिकन्दर भारत में आया, उसने एक वीतराग मुनि की विशेषता सुनी। उसने मुनिराज को भी अपना छन्दानुवर्ती समझा और बुला भेजा। किन्तु भारतीय संस्कृति के उच्च पीठ पर आसीन महर्षि क्या सिकन्दर के आज्ञाकारी हो सकते थे। अन्ततोगत्वा स्वयं सम्राट् सिकन्दर ही वहां उपस्थित हुआ और उस ने परिच्छदरहित उस साधु के सान्निध्य में उस उदात्तता के दर्शन किये जिसके मूल में उसके मुकुटरत्न विशीर्ण होकर धन्य हो गये। संस्कृति के वरद पुत्रों की चरणाब्जविभूति से ऊंचा कोई पीठ नहीं।

संस्कृति आत्मिक सौन्दर्य की जननी है और इसी की कृपा से सभ्य, सुसंस्कृत मानवजाति का निर्माण होता है। सभ्यता समाज की बाह्य शिष्टता का प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृति अनादिकाल से अपरिवर्तित रूप से चली आ रही है और इस अन्तराल में सभ्यता ने अनेक विवर्त धारण किये हैं। एक समय समाज जिसको प्रथारूप से स्वीकार करता है उसे ही आगे चलकर बहुमत से बदलकर रूपान्तर देना सभ्यता का रूप है। पहले धोती-कुर्ता सभ्य पुरुषों की वेशभूषा थी आज अंग्रेजी के चलन से कोट-पैण्ट-टाई कहीं अधिक सभ्यता की प्रतीक समझी जाती है। किसी समय गृह आगत अतिथि को दूध, घृत और भात खिलाकर तृप्त किया जाता था आज 'टी' उपस्थित करना सभ्यता का नमूना है। सभ्यता, इस प्रकार से सामाजिक शिष्टाचार है किन्तु संस्कृति आत्मधर्म से अभिन्न रहती है। इसीलिए सभ्यता यदि संस्कृति से अविरोधमूला है तो उसका आचरण किया जा सकता है किन्तु यदि उसके पालन से सांस्कृतिक दूषण उत्पन्न होता है तो उसका त्याग ही श्रेयस्कर है। सोमदेवसूरि कहते हैं—

'सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥'

अर्थात् लौकिक आचार के रूप में जितना वैध रूप से स्वीकार करने योग्य है, वह सभी प्रमाण समझना चाहिए। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि सम्यक्त्व की हानि करते हुए, व्रतों को दूषित करते हुए उस लौकिक विधि को स्थान दिया जाए। इसका तात्पर्य ही है कि सभ्यता भी वही श्रेष्ठ है जिसका संचालन संस्कृति द्वारा किया जाए। आज की सभ्यता 'होटल' की सभ्यता है और वहां खाद्य-अखाद्य सभी बनता है। एक व्रती और सम्यक्त्वधारी व्यक्ति तथा-

कथित सभ्यता के नाम पर वहां की बनी हुई वस्तुओं को नहीं खा सकता। अतः ऐसी सभ्यता जिसका आधार नितान्त भौतिक है, भारतीय संस्कृति की अनुगामिनी न होने से ग्राह्य नहीं। 'सभ्य' शब्द को निरुक्ति करते हुए पाणिनि 'साभाया यः' सूत्र लिखते हैं। इसके अनुसार सभ्य वह है जो सभा में साधु है। समाज द्वारा किसी प्रयोजनविशेष से एक स्थान पर समास्या करने को सभा कहते हैं। उसमें सम्मिलित होने, बोलने, मत व्यक्त करने की जिसमें क्षमता है, शिक्षा मिली है, उस आदरणीय व्यक्ति को सभ्य कहा जाता है। अंग्रेजी परिभाषा में जिसे आधुनिक (मोर्डन) कहा जाता है, सभ्य को उसी में अन्तर्भूत मानना सभ्यता का हनन करना है। क्योंकि भारतीयों की परिभाषा के अनुसार संस्कृतिविहीन को सभ्य नहीं कहा गया। संस्कृति का सच्चा सेवक ही सभ्य कहा जाने का अधिकारी है। सच्चा सभ्य व्यक्ति सभी का अविरोधी होगा। समाज में रहकर उसके लिखित-अलिखित नियमों का आत्मानुशासन से पालन करने वाला ही वास्तविक शिष्ट अथवा सभ्य कहा जाएगा। इस परिभाषा के अनुसार वे व्यक्ति, जो अत्यन्त आधुनिक कहे जाते हैं और जो अपनी भौतिक सम्पन्नता के बल पर अपने को सभ्य समझने के लिए समाज के अल्पवित्त जनों को बाध्य करते हैं, वास्तव में सभ्यता के प्रतीक नहीं कहे जा सकते। रास्ते में थूकना, पान चबाते चलना, कुशलता के नाम पर मिथ्या भाषण करना, प्रतारण करना, दूसरे से घृणा करना, उसे तुच्छ समझना, दूसरे की भावनाओं को ठेस पहुँचा कर धूम्रपान, मादक-पदार्थसेवन, दुर्भाषण करना—इत्यादि आधुनिकों के गुणावली में सम्मिलित करलिये गये व्यसन, आचार किसी सभ्य के परिचायक नहीं हो सकते। वास्तविक सभ्य तो चन्दन के वृक्ष के समान होता है जिसकी उपस्थिति मात्र से समीपस्थ व्यक्तियों को आह्लाद का अनुभव होता है। प्राणों में सुगन्धि के प्रवाह उतरते चले जाते हैं। जिसकी सन्निधि से दूसरे में संकोच, ग्लानि अथवा घृणा का भावोदय न हो, वह सभ्य है। सत्य तो यह है कि भारतीय जनता के जीवन में संस्कृति और सभ्यता को कार्यकारण भाव से माना गया है। संस्कृतिरूप कारण से ही सभ्यता रूप कार्य की उत्पत्ति मानी गई है। संस्कृति के मानसरोवर पर ही सभ्यता के राजहंस किलोल करते हैं। संस्कृति के निरभ्र आकाश में ही सभ्यता, शिष्टता के विराट् सुपर्ण उड़ान भरते हैं। यदि संस्कृति ही सदोष है तो उससे उत्तम लक्षण वाले सभ्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार के तन्तु होंगे पट उसी कोटिका बना जाएगा। वज्रलेप से चिक्कण किये हुए प्रस्तर पर ही

श्रेष्ठ चित्रांकन हो सकता है। किसी खुरदरी दीवार पर उत्तम चित्र लिखे जाने की कल्पना भी हास्यास्पद है।

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

प्राचीन भारत की यह मान्यता थी कि संस्कृतिसम्पन्न श्रेष्ठ व्यक्ति, जिन्हें सभ्य समझा जाता था, जैसा आचरण (सामाजिक चारित्रपालन) करते थे वैसा ही इतर सामान्य जन भी करते थे। क्योंकि वह जिस जिस को प्रमाण भूत मान लेते थे, उसी को अन्य भी अपने लिए आचरणीय मान लेते थे। इससे स्पष्ट है कि भारतीय मानव के लिए सभ्यता संस्कृति से परिचालित रही। उसकी वेष-भूषा में, वाणी में, तप-त्याग नियमों में, जहां उसकी संस्कृति ही मुखरीभूत होती थी वहां उसकी शिष्टजनमर्यादा की आधार सभ्यता भी अजहत्स्वार्था होकर रहती थी। यहां का शिष्ट जन केवल बाह्याडम्बर सवलित शैलूष (नट) नहीं होता था, प्रत्युत सही अर्थ में संस्कृति का पोषक भी होता था। इसीलिए भारतीय शास्त्रकार घोषणा करते थे कि न केवल भारत देश के, अपितु विश्व के मनुष्य यहां के समाज-धुरन्धर अग्रणी व्यक्तियों से अपने अपने उच्च जीवन की, चारित्र-पालन की, शिष्टता और सभ्यता की, सुजनता की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु चिरकाल तक दासता के बन्धन में पड़े रहने से आज भारत के लोग 'नक्काल' होगये हैं। परच्छन्दानुवर्ती होकर वे बिना किसी विचार-विवेक के दूसरे देशों की सभ्यता, आचार प्रणाली को अपनाने लगे हैं। स्पष्ट ही यह प्रवृत्ति भयावह है। क्योंकि जो स्वयं रत्न होता है वह तो उत्तम गुणों से ही विद्ध किया जाता है यों समुद्र के तट पर अनेक वेलाक्षिप्त शंख पड़े रहते हैं जिन्हें कोई भी उठाकर फूंक मार कर बजा देता है। अन्दर से थोथे नगाड़े को कोई चोट मारे, वह पुलकित होकर बजने लगता है। यही हाल हमारे भारतीय संस्कृति से अपरिचितों का है। वे विदेशों की फूंक मारने वाली प्रवृत्ति के शिकार होकर शंख के समान बेसुरा राग अलापने लगते हैं। किन्तु ऐसा करने में उनका स्वयं का गौरव नहीं है।

संयत जीवन व्यतीत करने वाले को अपना उत्तरदायित्व स्वयं वहन कर चलना चाहिए। उसकी गति में ऐसी मनोमोहक मुग्धताकारिणी 'चाल' होनी चाहिए कि दर्शक भी उसी का अनुकरण करने लगें। उसकी वाणी में ऐसी शालीनता होनी चाहिए कि सम्भाषणकला के शिक्षार्थी उसके अन्तेवासी (शिष्य)

बन जाने को आकुल हो उठें। उसकी मेधाशक्ति इतनी प्रांजल, प्रौढ और तर्क सहस्र से अपराजेय अडिग गिरिचट्टान होनी चाहिए जिसके आगे बृहस्पति भी नतमस्तक हो जाएं। विनय और नम्रता का मूर्तिमान प्रतीक ऐसा सुसंस्कृत व्यक्ति सभ्य समाज का मुकुटमणि होता है। लोक उसका अनुगमन करने की याचना करते नहीं थकते। वह अपने भाषण से, मौन से, स्थिति से, उत्थान से, गति, मति, और यति से विद्याशाला के समान, संसारभर को चारित्र के सम्यक्त्वभावी अध्ययन सुलभ कर कल्याणपथ के अनुवत सन्देश देता है और जगती को वशीभूत कर लेता है। संस्कृति उसके विभूतिपदों में निश्शंक, आश्रय लेती है और सभ्यता उसके चरणचिह्नों की धूलि ललाट पर लिप्त करती है।

संस्कृति, सभ्यता और समाज का यह आदर्श रूप समाज के चतुर्विध संगठन पर निर्भर है। त्यागी अपने चारित्र से और श्रावक अपने विनम्र वैयावृत्य से तथा विद्वत्समुदाय अपने वैदुष्य के सम्यक् उपयोग से आगमोक्त दर्शन ज्ञानचारित्र को असम्यक्त्व से अस्पृष्ट रखें। अंगागिभाव से एक दूसरे को उदात्त, उन्नत होने में सहयोग करें और सर्वविध उत्तम उपलब्धियों से आपूर्यमाण रहें। ऐसा करने से ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से कीलित बाधाओं के सम्पात से रक्षा का मार्ग निकाला जा सकता है। परस्परोपग्रहो जीवानाम्' के सूत्रार्थ को अपने से ही आरम्भ करें। ऐसा करते रहने से ही हम अपनी संस्कृति को, समाज को और सभ्यता को विश्वस्तर तक व्यापक बना सकेंगे।



संस्कृति के मूल आधार

'संस्कृति' महाजातियों के दीर्घकालीन तप का प्रसव है। उसका रूप स्थिर करने में रागद्वेषविवर्जित तत्वचिन्तकों के जीवन बलि हुए हैं। कुशल शिल्पी द्वारा उकेरे गये प्रस्तर में मूर्ति के आविर्भाव के समान, साधना की सहस्र टकोरों से संस्कृति को सजीव विग्रह प्राप्त होता है। दर्पण में जोड़ नहीं लगते और स्थिरीभूत संस्कृति में रूपान्तर अथवा संशोधन नहीं किया जा सकता। संस्कृति को वह स्थायित्व, उसके अपने दर्शन और सिद्धान्तों से मिलता है, जिनका संरक्षण उस समाज के त्यागी, गृही और विद्वान् करते हैं। 'अहिंसा' ही वह दर्शन है जिसकी चारित्रप्रतिष्ठा को सिद्धान्त मानकर श्रमणसंस्कृति ने मानवता के सर्वोदयी भवन पर कलशाभिषेक किया है। दान, परोपकार, सहिष्णुता, सद्वृत्ति और आत्मदर्शन अहिंसक संस्कृति की छत्रचामर विभूतियां हैं, स्वपरविवेक उसका आसन पीठ है और दिव्यध्वनि के देश उसकी साम्राज्य भूमियां हैं। रत्नत्रय के मणिमुकुट से उद्भासित, वीतराग मुद्रांकित उस विराट् संस्कृतिदेवता के धर्मशासन में 'जीओ और जीने दो' के आत्मानुशासित, छन्द अनुजीवियों के श्वासोच्छ्वास में अपनी प्रक्रिया का स्वतः निर्वहण कर रहे हैं। गुण और गुणी के समान अभिन्न रहकर संस्कृति और सांस्कृतिकों ने इस वीरशासन को स्वप्रतिष्ठ रखा है। अपनी आत्मधर्म निरूपकता से जनमानस में शाश्वत आनन्दधारा को उच्छल करने वाली विशिष्टधर्मता ही इस संस्कृति का मेरुदण्ड है जिस पर अवतीर्ण होने के लिए देवों का मन ललचाता है।

धर्म और पन्थ

धर्म और पन्थ

'धर्म' शब्द की चर्चा अनादिकाल से चली आ रही है। अनेक सम्प्रदायों, वर्गों, व्यक्तियों और महानुभावों ने अनेक रूप में धर्म के दर्शन किये हैं, इसकी परिभाषाएं स्थिर की हैं। उनमें कितने एक धर्म को जीवन का अभिन्न अंग मानते हैं तो कितने जीवन के साथ इसका कोई सामंजस्य अनुभव नहीं करते। बहुत से धर्म को अवांछनीय बन्धन मानते हैं तो अनेक इसे मुक्तिसाधन का मणिसोपान मान कर आदर करते हैं। कितने लोग इसे सामाजिक संगठन का प्रबल कारण स्वीकारते हैं तो कितने, इनसे पृथक् मत रखने वाले, धर्म को हिंसा, बैर, कलह, आक्रमण, युद्धोन्माद और विभीषिका की ऐतिहासिक अखाड़ेबाजी का माध्यम बताते हैं। कुछ लोग इसे बुद्धिवाद के तराजू (तुलादण्ड) पर तौलते हैं तो कुछेक श्रद्धा के मणिमुकुट में इसका दर्शन करते हैं, परमार्थसाधन का अमोघ उपाय मानते हैं। इस प्रकार धर्म को अनेक लोग अनेक दृष्टिभेदों से परखते हैं, कटाक्ष करते हैं, अनुगत होते हैं और अपने को धन्य समझते हैं।

प्रश्न होता है कि वह 'धर्म' है क्या, जिसको लेकर विचार विविधताओं का यह अनादिक्रम विश्व भर में प्रचारित है। इतना तो निर्विवाद सत्य है कि धर्म बहुचर्चित है और आज से नहीं, चिरकाल से इसको लक्ष्यकर सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना की जाती रही है। किसी ने धर्म को तलवार कहा है तो किसी ने आत्म-साधन का अमृतविन्दु बताया है। परन्तु इसकी चर्चा अवश्य होती रही है। एतावता इसकी व्यापकता, विशिष्टता, अमरता, मान्यता और विलक्षणता को तो स्वीकार करने से इन्कार नहीं किया जा सकता। साथ ही इसकी व्याख्या भी इतनी सरल नहीं कि उक्त पर्याप्त जटिलताओं के जाल में से तत्काल देखी, परखी जा सके। तो क्या धर्म अनिर्वाच्य है?

धर्म की परिभाषा करने के लिए धर्म के नाम पर किये जाने वाले आचरणों की संहिता पर ध्यान देना आवश्यक है। एक व्यक्ति प्रातः स्नान कर देव मन्दिर में जाता है और भगवान् का पूजा-प्रक्षाल करता है। दूसरा नियमित समय पर अपने कार्यालय में उपस्थित होता है और अपनी कुर्सी पर बैठकर बिना किसी प्रमाद के निश्चित कालावधि कार्य करता है, तीसरा न्यायासन पर बैठकर मुक्ति,

प्रमाण और संविधान की धाराओं से निर्णय पर पहुँचता है और चतुर्थ रात-दिन संसार की मूढगति को देख, वीतराग होकर धर्म ध्यान करता है। इस प्रकार कार्य करने वाले अपने कार्य को भक्ति, ड्यूटी, कार्य और आत्मसाधन आदि नामों से पुकारते हुए वैसा करना अपना धर्म समझते हैं। इसके विपरीत काला बाजार और अनेक तस्कर व्यापार करने वाले अपनी विलक्षण बुद्धियोजना से सम्पादित इन वृत्तियों को करते हुए भी जनता में धर्मभूषण, धर्मदिवाकर आदि अलंकरणों से सुशोभित होते रहते हैं। इन सब पर यथावत् विमर्श करने पर तो धर्म और अधर्म के विषय में तात्त्विक विवेचन करना बहुत ही दुष्कर प्रतीत होता है। तो, धर्म क्या है ? क्या धर्म के विषय में कोई युक्तिवाद प्रमाण है या कि वह सनातन आस्था के शिखर पर धरा हुआ भारवाही आमलक है।

धर्म का विश्लेषण करने के लिए धर्म ग्रन्थों की अपनी मान्यताएं सम्भवतः इसमें अधिक सहायक हो सकेंगी। भारतीय संस्कृतिमूलक सामाजिकचर्या में चार पुरुषार्थों को स्वीकार किया गया है। वे पुरुषार्थ हैं धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष।

इन चारों पुरुषार्थों में अन्तिम मोक्ष साध्य है और धर्म प्रथम साधन है। इसीलिए कालिदास ने 'रघुवंश' में इक्ष्वाकुवंशियों का वर्णन करते हुए लिखा 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' इक्ष्वाकुवंशी केवल सन्तान उत्पत्ति द्वारा प्रजातन्तु की अनवच्छिन्न-परम्परा को सुरक्षित करने हेतु गृहस्थ धर्म (दारपरिग्रह) को स्वीकार करते हैं। अर्थात् कामभोग (अनियन्त्रित इन्द्रिय सम्पर्क) के लिए वे विवाह नहीं करते। यहाँ वंशरक्षार्थ सन्तान उत्पन्न करना धर्म है, सन्तनोत्पत्ति का साधन कामभोग है, उसे धर्म के शासन में रखकर ही दारकर्म में प्रवृत्त होना प्रयोजन है न कि 'कामाय गृहमेधिनाम्'। राजा प्रजा से 'कर' ग्रहण करता है वह प्रजा के लाभ के लिए ही उस षष्ठांश को लेता है जिस प्रकार सूर्य समुद्रों से कुछ पानी उठाता है और वर्षा के रूप में उससे सहस्रगुण वापस लौटा देता है, उसी प्रकार शासक भी प्रजा के कार्यों में ही प्रजा से आदत्त धन को नियोजित कर देता है। ऐसा करना धर्म है। शासकों का यह अर्थसंग्रह धर्ममूलक है। किन्तु यदि राजा या शासक प्रजा के धन से भोगविलास करे, निजी व्यय करे तो वह पाप है, अधर्म है। राष्ट्र के उद्योग-पतियों, व्यापारियों के लिए भी वही नियम लागू होता है। किसी वस्तु के प्राप्त लाभ (मुनाफा) को यदि व्यापारी पुनः उसी मद में नियोजित कर पुष्कलरूप से, अधिक मात्रा में, सस्ते भाव करने की इच्छा से 'माल' मंगाता है तो वह उसका धर्ममूलक अर्थ-नियोजन 'व्यापार' है किन्तु यदि वह मिलों से, उद्योगशालाओं और

उत्पादनशिकायों से उपलब्ध लाभांश को रखकर अपने ऐश्वर्य, एवं सुखविलास की वृद्धि करता है तो यह 'अधर्म' है। क्योंकि पूंजी व्यापार में नियोजित कर उन-उन वस्तुओं को अल्पमूल्य में जनता के लिए प्राप्त करवाना व्यवसायी का कर्तव्य है न कि उसे खरीद कर ऊंचे भावों में बेचना।

धर्म का सूक्ष्म विचार न करने से ये दोष आते हैं और इनके परिणाम सारे सामान्य जगत् को भुगतने होते हैं। आज यदि किसी वस्तु के भाव पूर्वापेक्षया बढ़ गये हैं और बढ़ी हुई कीमत पर यदि वह पुष्कल मात्रा में मिलती है तो इसका यह अर्थ तो नहीं कि वस्तु दुर्लभ है किन्तु यह कि वस्तु को अपने अधिकतम लाभांश के दृष्टिकोण से ऊंचे दामों पर बेचा जा रहा है। धर्ममर्यादाहीन मनोवृत्ति का यह अस्वस्थ परिणाम राष्ट्र पर पड़ता है। यदि 'परिग्रहत्याग' का अंश समाज में वर्तमान रहे तो मुनाफाखोरी की यह प्रवृत्ति कभी घर नहीं कर सकती। सचमुच समाजसेवा के साथ साथ अल्पपरिग्रह रखते हुए व्यवसाय करना और परिग्रह को निर्बाध बढ़ाते हुए केवल अपने पुष्कल लाभ के लिए समाज को उत्पीडित कर उससे द्रव्याकर्षण करना दोनों भिन्न कोटि की वृत्तियां धर्ममूलक और अधर्ममूलक चिन्तनधारा के दो स्पष्ट मान हैं। एतावता धर्म मन की सात्विक वृत्ति का नाम है। विश्वमैत्री की भावना का आधारस्तम्भ है, संसार भर को अपना ही कुटुम्ब समझाने वाला आर्ष सूत्र है, निज-पर की क्लेशदायिनी संकीर्ण विचारधारा पर विराट् अस्तित्व की विजयपताका है। धर्म निराकुलता की जननी है, आनन्द का पिता है, सुखों का सहोदर है, शान्ति की पवित्र भूमि है। धर्मध्यान से मनुष्य सीमाओं के संकुचित घेरे से निकलकर विशालता के शिखर पर अवस्थित होता है। वह दुःख, चिन्ता, भय, क्लेश की अनुभूतियों से परे अहर्निश आनन्द, निराकुलता, निर्भयता, सुख और अचिन्त्य शक्तियों के सागर में अमृत कल्लोलों पर अवगाहन करता है। दिशाओं के सभी द्वार उसके लिए उन्मुक्त हैं। समुद्रों का कल्लोलसंकुल जल उसकी स्तुति करता है। धर्म की ऐसी ही अपरिच्छिन्न शक्ति है। वह आत्मा में निर्दोष चैतन्यशक्ति को उद्बुद्धकर वस्तुस्वभाव को अनावृत कर देता है। वस्तुस्वभावपरिज्ञानी के लिए संसार का रागद्वेषमूलक कुहरा हट जाता है, एक निरभ्र आलोक उसका मार्गदर्शन करता है।

'चारित्तं खलु धम्मो' चारित्र ही धर्म है, ऐसी सर्वोदयी धर्मचिन्तक आचार्यों की मान्यता है। अतः धर्म को केवल विचार तक सीमित नहीं किया जा सकता। विचार और आचार दोनों मिलकर निर्दोष धर्मरथ के उभयचक्रों का

काम करते हैं। श्रमण संस्कृति की विशाल रथयात्रा अहिंसामूलक आचार और अनेकान्तमूलक विचार दो मणिचक्रों पर आधारित है। केवल विचार करना 'नहि गुड़ इत्युक्ते मुखं मधुरं भवति' गुड़ का नाम ले लिया, क्या इतने मात्र से मुख मीठा हो जाएगा ?—के समान है। कोई सत्य बोलने का विचार करे और समय पर मिथ्या बोले तो यह मायाचार के अतिरिक्त क्या है! 'वत्थुसहावो धम्मो' यह धर्म की दूसरी परिभाषा है। जिस वस्तु का जो स्वभाव है वही उसका धर्म है। अतः अग्नि की उष्णता, जल की शीतलता, पवन की स्पर्शकता (स्पर्शानुमेयो वायुः), आकाश की अनन्तताइत्यादि वस्तुओं के आत्मधर्म हैं। यदि अग्नि स्पर्श करने पर किसी को जला देता है तो वैसा उसका धर्म है। किसी नीतिज्ञ ने कहा है—'होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः' कोई श्रोत्रिय ब्राह्मण, जो अग्नि को नित्य घृत-शाकल्य अर्पित कर प्रसन्न करता है, यदि कदाचित् उसी अग्नि से छू जाए तो अग्नि उसे भी जला देता है। क्योंकि यह जलाना, उसका आत्मधर्म है। यह आत्मधर्म ही वस्तु का आत्मलक्षण भी कहा जाता है। इसका विलोम अनात्मधर्म है। जैसे पानी में उष्णता उत्पन्न करना पानी का अनात्मधर्म है। जैसे ही उष्णतासमवायी अग्नि का सम्पर्क पानी से पृथक् कर दिया जाएगा वह शीतल होने लगेगा। किन्तु अपनी मूल प्रकृति को नहीं भूलेगा। यही वस्तुओं का स्व-भाव है। मनुष्य का आत्मधर्म भी अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन है किन्तु कर्मबन्धनों में अनादिकाल से फंसा हुआ वह आत्मधर्म को भूल-भूल जाता है। मोहनीय कर्मों के उदय से वह रागपरिणत होकर अनेक धर्मव्यवहित कर्मों में निमग्न हो जाता है।

धर्म से आत्मिक चेतना का निरभ्र स्फुरण होता है, आचरणीयकर्तव्यों का सम्यग् ज्ञान होता है, व्यक्ति में ही विराट् विश्वमानवता का विकास होता है। क्षुद्र तड़ागों में बँधा हुआ जल जिस प्रकार मलिन, पंकदूषित और गतिहीन हो जाता है, उसी प्रकार संकुचित, अधार्मिक मनोवृत्तियों से विवश मनुष्य अपने क्षुद्र विचारों से स्वयं पतित हो जाता है। किन्तु धर्म की शरण में जानेवाला, सर्वोदयी भव्यजन सर्वत्र विराट्विभूतियों से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। धैर्य, क्षमा, इन्द्रियदमन, अचौर्य, शौच, अपरिग्रह, विद्या की उपासना, सत्यभाषिता, क्रोध न करना, अहिंसा का सार्वत्रिक निर्बाध पालन ये सब धार्मिक मनुष्य के मित्र हैं, मार्ग दर्शक हैं। धर्म से इहलोक और परलोक सुधरते हैं। धार्मिक मनुष्य की भावनाएं इस संसार में रहकर भी जलाशय में रहते हुए जलसम्पर्क

विमुक्त कमल के समान रहती है। धर्म ही उसे इसपर का भेदभाव कराकर उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्रदान करता है। धर्म क्या है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि भगवान् के रागद्वेष विवर्जित चरणों में एकान्त भक्ति रखना धर्म है। देव, गुरु, अतिथि का सत्कार करना धर्म है। सप्तव्यसनों का त्याग धर्म है। मूलगुणों का पालन करना धर्म है। मायाचार नहीं करना धर्म है। सभी के प्रति समदृष्टि रखना, उदाराशय होना धर्म है। उसमें धर्म की स्थिति जानो जो विनम्र है, सदाचारी है, सत्यभाषी है, क्रोध, लोभ, मान, माया से वर्जित है, इन्द्रियसमूहों को वशमें रखता है, अभिमान नहीं करता, मृदुता को अपनाता है, शील का सागर है, सद्गुणों का आगर है, दूसरे के तिलप्रमाण गुण को गिरिप्रमाण बताकर प्रसन्न होता है। जिसके हृदय में किसी उत्तमगुण व्यक्ति को देखकर असूया नहीं होती और जो भगवान् जिनेन्द्र देव के चरणारविन्दों का मधुप है। इसके विपरीत कुटिल, क्रोधी, अनृतभाषी, प्रतारणाकुशल, देवगुरु में श्रद्धान न रखने वाला, केवल संसार को ही, इन प्रतिक्षण परिवर्तित परमाणु पुद्गलों को ही प्यार करने वाला तथा 'तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपनो नाश मान' वृत्ति का अनुवर्तन करने वाला धर्म से वंचित है। और तो क्या? वह स्वयं अपने अनन्त अक्षय सुख से भी वंचित है। वह ठगा गया है संसार के इस मीना बाजार में, लूटा है उसे कामक्रोधमूलक दस्युओं ने, अकिंचन किया है ज्ञानावरणी कर्मों ने, दुःख क्लेश की भित्ति पर श्वास श्वास के दारुण नश्वर चित्र बनाते, मिटाते नष्ट किया है उसने अपने मनुष्य पर्याय के दुर्लभ क्षणों को। वह निश्चय अधार्मिक है। क्यों कि धर्म अमृत कलश है, मधु की गागर है। आत्मज्ञान को पाने का संबल है। परलोक यात्रा का पाथेय है धर्मराज की बही में लिखाने योग्य उत्तम पूंजी है।

यह धर्म त्रिकालाबाधित है। सत्यरूप है। ज्ञातव्य, दर्शनीय और आचरणीय है। धर्म की नौका पर आरूढ़ होकर इस भवार्णव को लांघने वाला डूबता नहीं। क्योंकि संसार के संश्लेषणजन्य सुखप्रतीतिमान् यावत् भोग, परिणाम में कष्टप्रद हैं और उनकी प्राप्ति से सुख तथा वियोग से दुःख होता है। यद्यपि, वह प्राप्ति और विरह दोनों मिथ्या हैं तथापि धर्मदृष्टि के बिना उसी में सत्य भावना रखने से मानव को सुखदुःखावबोध होता है। किन्तु धार्मिक नित्य स्वाध्याय और मुनिमहाराजों के सदुपदेश से जीव और देह का द्वैत समझकर अनेकान्त की छाया में अक्लान्त सामायिक करता है। यह धर्म शान्ति का कवच है। संसार में जो लोभ की मात्रा बढ़ गई है और राष्ट्र एक दूसरे को हड़पने के प्रयत्नों में लगे हैं

सो भी धर्म का निरादर करते हैं। जिस प्रकार घड़े को कुएं में डुबाने पर या सागर में निमग्न करने पर वह एक समान ही पानी ग्रहण करेगा उसी प्रकार धार्मिक जन अपनी मर्यादा की सावधान होकर रक्षा करेंगे। दूसरे के अधिकृत स्थान पर सीमोल्लंघन करना उनकी सत्त्वगुणप्रधान चित्तवृत्ति के लिए असम्भव है। संसार के सन्तुलन को बिगाड़ने में अधार्मिक मनोवृत्ति का प्रमुख हाथ है। अधार्मिक धर्म को पाखण्ड, ढकोसला बताते हैं। उन्हें 'देवताओं के गुलाम' कहकर व्यंग्य करते हैं। किन्तु विचार किया जाए तो धर्मपराङ्मुख व्यक्तियों का आचरण ही वास्तव में विश्व के लिए भयावह है। क्योंकि पाप-पुण्य के प्रति निरपेक्षवृत्ति रखने से अधार्मिक समूह विश्व को महानाश के गर्त में ले जा सकते हैं। धर्म बिना धार्मिकों के पंगु हो जाता है। उसकी क्रियाशक्ति धार्मिक वातावरण में ही पल्लवित होती है। 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' यह लोक आभाणक वास्तविक है।

धर्म जीव की आत्मशक्ति है, उसके बिना शिव शव हैं, अग्नि भस्म का ढेर है, राष्ट्र के जनपथ शून्य का विस्तार है। प्राणियों के हृदय में बीज रूप से धर्म ही प्रतिष्ठित है। धर्मसंरक्षण से ही व्यक्ति में औदार्य, सौन्दर्य, चारुचरित्र और विश्वप्रेम की अमृत तरंगिणी कल्लोल लेती है। गुण और गुणी क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति के समान धर्म और तद्धर्मावच्छिन्न धर्मी का परस्पर समवाय सम्बन्ध है। जिस प्रकार दाहकधर्मरहित अग्नि की कल्पना भी नहीं की जा सकती उसी प्रकार दशलक्षण धर्म से रहित मनुष्य की स्थिति भी परिकल्पित नहीं की जा सकती। अहिंसा मानव का सहज धर्म है। न्याय-शास्त्र कहता है 'अनुकूलतया वेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्' जो अपने अनुकूल वेदनीय है वह सुख और प्रतिकूल वेदनीय है वह दुःख है। सभी सुख चाहते हैं, दुःख से भयवन्त हैं। स्वपर के लिए अनुकूलतावेदनीय सुख का मूल अहिंसा है। उससे ही जीवों का वैर त्यागपूर्वक अस्तित्व रह सकता है। सभी प्रकार के सामाजिक, शिष्ट, परस्परोपग्रह के मूल में अहिंसा ही निमित्त कारण है। 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्' यही परम ब्रह्म है। यह मान्यता मानव जाति के सुख के लिए अनादिकाल से स्वीकृत चली आई है। अतः वह मानव धर्म है, किन्तु इसका आज त्याग कर दिया गया है, इसीलिए संसार बारूद के ढेर पर खड़ा है, प्रलयनदी के कगारे पर अवस्थित है।

धर्म का आचरण करो, धर्माचरण में प्रमाद नहीं करना चाहिए। अपने प्रत्येक दिन का विवरण लिखो, रात में सोते समय दिनभर की चर्या का

पुनरवलोकन करो और धर्मसम्मत तथा धर्मविरुद्ध अपने कृत, कारित, अनुमोदित कार्यकलापों पर दृष्टि डालो। यदि दिनचर्या में कहीं भूल हुई है तो प्रायश्चित्त करो, उसे पुनः न होने देने का व्रत लो, संकल्प करो कि धर्मरहित कोई आचरण पुनः नहीं करूंगा। धर्म के श्वेत वस्त्र पर पड़ा हुआ अधर्म की पीक का लाञ्छन दूर से ही दिखायी दे जाता है। 'स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रलेकेन दुर्भगम्' शरीर सर्वांग सुन्दर होने पर भी कुष्ठ के एक दाग से दुर्भग हो जाता है। उस दाग से बचो। कहते हैं, 'वपु सहस्रक्षालितमपि रंगं न जहाति' रांग नाम का धातु हजार बार धोने पर भी अपने मैल को नहीं छोड़ता है। अपने विचारों को 'रंग' न बनाओ। जिस प्रकार पकी हुई खेती को किसान दरांती से निर्दयतापूर्वक काट डालता है उसी प्रकार काल मानव को विना अवसर दिये नष्ट कर देता है अतः उस समय से पूर्व ही आत्मकल्याण की भावना करो। धर्मपालन के लिए किसी विशेष समय की प्रतीक्षा न करो। श्वासोच्छ्वास के प्रत्येक आवागमन के साथ धर्म के राजहंसों को चर्या के मुक्त नीलाकाश में उड़ने दो। लोकाकाश से परे उस गन्तव्य ध्रुव को पहले से ही देख रखो, जहां प्रयाण करना है। उसके लिए धर्म ही उपाय है। धर्म का यान ऊर्ध्वमुख है और अधर्म रथ के चक्र नरकों के पंक में धंसे हुए हैं। धर्म का स्वरूप तीर्थंकरों के समान दिव्यरूपाभा से प्रोज्ज्वल है। धर्माचरण से अनन्तानुबन्धी कर्मों का क्षय होता है। पुण्यप्रकृति का बन्ध होता है। धर्मध्यान मुक्ति-पथ साधक का पाथेय है। 'समीचीनं धर्मं देशयामि' कहकर आचार्यों, शास्त्रकारों ने उस धर्म का निरूपण किया है।

धर्म मनुष्य को मिला हुआ दैवी वरदान है। इस घनच्छाय और महाफल पादप के नीचे बैठकर साधना के स्तूप उठाने वाला धर्मध्यानी अनन्ताकाश के ऊपर प्रतिष्ठित आनन्दलोक का पथ प्रशस्त करता है। धर्म पालने वाले का आत्मा बलवान् होता है। पानी के अभाव में मरुस्थलों में भटके हुए लोगों को, अपने ऊंट का पेट चीरकर प्यास बुझाते सुना है। किन्तु धार्मिक व्यक्ति, जो व्रत लिया हुआ है, प्राणत्याग पर भी त्यक्त वस्तु का, निषिद्ध पदार्थों का, हिंसा के उपायों से प्राप्त जीवनीय उपादानों का कभी ग्रहण नहीं करेगा। आत्मबल, विवेक और शुचिता, सम्यक्त्व से अनुप्राणित धर्म के पालन से ही सम्भव है। इससे बढ़कर धर्म की उदात्तशक्तिमत्ता का क्या निदर्शन हो सकता है। अल्प परिग्रह, हित-मित भोजन, और व्यसन-अनासक्ति से राष्ट्र को धार्मिक व्यक्ति अपना अव्यवच्छिन्न, निराकुल सहयोग देता है और उसकी समृद्धि में सहायक होता है किन्तु अधर्मी व्यक्ति

परिग्रहपरिमाण न रखने से, रातदिन पार्टियों, खाद्याखाद्य समूह, उच्छिष्ट तथा नाना व्यसनों से राष्ट्र का निरन्तर अहित करता है और अजाने ही राष्ट्रघाती कर्म में प्रवृत्त रहता है। अतः धर्म के घण्टानाद, कपूर के दीपक, आरार्तिक के मंगल शब्द, भगच्चरणशरणागति के पवित्र संकल्प, निष्ठापूर्वक स्वीकृत व्रतों का पालन, धर्मानुराग एवं तीर्थंकरों की भक्ति जबतक समाज में वर्तमान रहेंगे, गुरुओं, मुनि-महर्षियों के परमार्थ सूक्त वचनामृत के पल्वल भव्यों के हृदय में लहराते रहेंगे, धर्म का मानस्तम्भ मानव जाति को दिग्भ्रम से बचाता रहेगा।

पन्थ

'पन्थ' शब्द का अभिप्राय पथ या मार्ग है। भारत में यह शब्द यौगिक रूप में तेरा पन्थ, बीस पन्थ दादूपन्थ, कबीरपन्थ, इत्यादि में देखने-सुनने को मिलता है। 'पन्थ' शब्द के साथ ऊपर जो व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है, उनसे असन्दिग्धरूप से यह प्रतीत होता है कि किसी व्यक्तिविशेष ने धर्म को जैसा समझा उसी प्रकार उसका समाज में प्रचार किया और उनके अनुयायियोंने उसे तत्तद् व्यक्तियों की निजी आचारपरम्परा में स्वीकार करते हुए उस पन्थ को उन्हीं के नाम के साथ सम्बन्धित कर दिया। मूल में इन 'पन्थों' के प्रवर्तक स्वयं किसी पन्थ-रहित उदार धर्म के अनुयायी रहे। जैसे 'सिक्ख' पन्थ एक समय हिन्दुओं में से ही निकला और गुरु गोविन्दसिंह के जो 'शिष्य' केश, कंघी, कच्छ, कड़ा और कृपाण इन पांच ककारों को स्वीकार कर गुरु के तत्कालीन राष्ट्रधर्म में सम्मिलित होगये वे ही अपने को शिष्य अथवा सिक्ख कहने लगे। कालान्तर में उनका रहन-सहन, रीति-रिवाज बदलता गया और केश कृपाणादि वीरवेष से उपलक्षित वह एक जाति बन गई। यद्यपि गुरुद्वारों में 'नानक वाणी' अथवा 'ग्रन्थ साहब' के प्रवचन हिन्दुओं के भगवान् राम अथ च धर्म-नीति का उपदेश ही हैं तथापि 'पन्थ' ने उसकी अलग परम्परा निर्धारित कर उसे हिन्दुओं के विशाल जातीय क्षेत्र से अलग कर दिया। इसी प्रकार 'दादूपन्थी' साधुओं में दादू के पद, दोहे रामपरक ही हैं तथापि वह एक पृथक् पन्थ है। कबीर पन्थ पृथक् है और इसी प्रकार के शतसहस्र पन्थ भारत में वर्तमान हैं। उनमें कुछ के साथ 'पन्थ' शब्द का सीधा प्रयोग है और कुछ 'पन्थ' आशयी अवान्तर शब्दों द्वारा अभिहित होते हैं। 'सम्प्रदाय' शब्द भी इसी 'पन्थ' बोध के लिए प्रयुक्त होता है। यजुर्वेद में 'पन्था' शब्दा का प्रयोग ब्रह्मज्ञान के लिए आया है : 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति

नान्यः 'पन्था' विद्यतेऽयनाय।' उसीको जानकर मृत्यु के दृढ़पाश से मुक्ति मिल सकती है, अन्य 'पन्था' जाने के लिए नहीं है। इस प्रकार अनेक अर्वाचीन और प्राचीन 'पन्थ' किसी बहुत बड़े धार्मिक-जनायन से फटे हुए छोटे २ संकीर्ण मार्ग हैं। क्योंकि ये मार्ग व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षाओं से परिकल्पित हैं अतः विशाल और उदार महापथ से इनमें स्वाभाविक भिन्नता है। साथ ही इनमें व्यक्तिबोध का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। यही धर्म और पन्थ में मूल अन्तर है। धर्म वस्तु स्वभाव को प्रमुख बताता है तो पन्थ व्यक्तिनिरूपित किसी सत्यांश को अथवा सत्याभास को मानने का आग्रह करता है। धर्म त्रिकालाबाधित होने से सदा एकरूप है किन्तु पन्थ-व्यामोहधुरन्धरों ने उसकी अपरिवर्तनीय सत्ता में वैयक्तिकता का चिह्न मिश्रित कर दिया है। इसीलिए वह अन्तरात्मा के विशाल उच्चासन से उठकर बाह्य उपकरणानुमेय हो गया है। किसी के तिलक की भंगिमा को, उत्तरीय की छटा को, कण्ठार्पित माला को, पाणिपात्रों के पृथक्-पृथक् आकल्पों को देखकर सहज ही बिना प्रश्न के हम उसके 'पन्थ' का पता लगा लेते हैं। यह 'पन्थ' धर्म का एक खण्ड है। धर्म के विराट् समुद्र में से ग्रहण की हुई एक बिन्दु है। किन्तु बिन्दु और सिन्धु में जो अन्तर है उसे जान लेने पर इस बिन्दु की विकारग्रस्तता का ज्ञान सहज ही हो जाता है। समुद्र निरन्तर संकुल रहता है और अपनी घोर वज्रगर्जना से, अपने अनन्त उद्वेल्लन से अपनी स्वरूपविशुद्धि करता रहता है। किन्तु उसी में से यदि बिन्दु को अलग कर दिया जाए तो वह अल्प होने से सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति के क्षुद्र धर्मों से मलिनीकृत होकर अपना वास्तविक स्वरूप खो बैठेगी। तात्पर्य यह कि समुद्र के अधीन हमें रहना पड़ेगा और बिन्दु को हम अधीन कर रखेंगे। तब जिसके अधीन हम रहेंगे, वह निश्चिय हम से, व्यक्तिचेतना में ऊपर होगा और उस की देशना को हमें 'नमोऽस्तु' कह कर मानना पड़ेगा। किन्तु जिस अपहृत की हुई पन्थ-बिन्दु को हमने अपनी व्यक्तिचेतना से प्रभावित कर लिया है, वह तो अपार, अपरिच्छेद्य समुद्र की दुहिता न होकर हमारी आत्मख्याति की कृष्ण रेखा होगी जिसकी मानभूमियों का निर्धारण व्यक्ति स्वयं करेगा। ऐसी विपन्नस्थिति में मोती में से आब के समान पन्थ में से वास्तविक सर्वोदयी धर्म का लोप हो जाएगा और व्यक्तिवाद की दुन्दुभी बजाने वाला 'पन्थ' रह जाएगा। नवनीत-विनाकृत तक्र के समान शक्रपद का दम्भ करने वाला यह 'पन्थ' धर्मसमुद्र का 'नक्र' ही सिद्ध होगा जिसकी वक्र दंष्ट्राओं से तीक्ष्णचक्र-प्राहत-सा मानव समाज सम्मूर्च्छित हुए बिना नहीं रहेगा। किसी एक ही धर्म में अनेक पन्थों का जन्म हो

सकता है। वे पन्थ दायादों के समान धर्मपिता की सम्पत्ति का स्वेच्छया बंटवारा कर उसे सर्वथा रिक्त भी करने का दुष्प्रयत्न कर सकते हैं। कभी कभी पन्थ को जीवित रखने के लिए धर्म के सनातन सत्यांशों की बलि दी जाती रही है। 'पन्थ' परिकल्पना के आधार पर कभी कभी अवसरवादियों की बन आती है और वे धर्म के नाम पर आडम्बरमूलक अपना 'पन्थ' अलग स्थापित कर देते हैं। कोई कोई लोकजीवन की किसी प्रच्छन्न दुर्बलता को भांप कर लाभ उठाते हैं। धर्म की आड़ में शिकार खेलते नहीं चूकते। शास्त्रों की व्याख्या अपने मनमाने ढंग से करते हैं। प्रकट में अपने को धर्मदास कहते हैं किन्तु प्रच्छन्नरूप में राक्षसों के कान कुतरते हैं। धर्मव्यामोह उत्पन्न कर संसार में विप्लव की आग लगा देते हैं। अपने में जो अशेष मलिनता और कुसंस्कार हैं उन्हें धर्म के दैवी शरीर पर उछालने का प्रयत्न करते हैं। शास्त्रज्ञान के अभाव में अथवा प्रबुद्ध उत्कट चेतना के अभाव में लोकमानस 'पन्थ' परिभाषा के आपातरमणीय निरूपण में, जालपाश में कुरंग के समान फस जाता है। एक ही सम्प्रदाय में, एक ही धर्म में इन पन्थ-वादों से जो भेद उत्पन्न हो जाता है, उसके परिणाम परस्पर संघर्ष को जन्म देते हैं, एक-दूसरे को वादामंत्रण देकर न्यायालयों तक ले जाते हैं। अहिंसा को भूलकर हिंसक बनते उन्हें लज्जा नहीं आती, सत्य का अपलाप कर असत्य को प्रतिष्ठित करते उनका हृदय विचलित नहीं होता। क्रोध को वे अपना सखा बना लेते हैं, शान्ति को दुत्कारते हैं। कोई देवप्रतिमा को पुष्पाञ्जलि अर्पित करना ही कर्तव्य समझता है तो कोई दुग्धधारा से स्नान कराता है, कोई सूखे बादाम, चावल से भगवान् की द्रव्यपूजा मानता है। इस प्रकार पूजाविधि के भेदों को ही सर्वोच्च मानकर वास्तविक भक्तिधारा को भूल जाता है। मेरा 'पन्थ' प्रतिपादित अर्चा-प्रकार ही उचित है। अन्य सभी भ्रमबाधित हैं, ऐसी एकान्त धारणा करवाना 'पन्थों' की ही करामात है। किन्तु पन्थ का धर्म के लिए सर्वस्वार्पण, धर्मगौरव के लिए पन्थ के संकीर्ण व्यामोह को छोड़कर विनयावनत मस्तक से भगवान् का गन्धोदक ग्रहण करना यही सर्वोदयी विशिष्ट मार्ग है। जबतक नदी किसी महासमुद्र से मिलती नहीं, कुंवारी है, अपूर्ण है, उसकी अशान्तगति की स्थिरता नहीं मिल सकती। जब वह अपनी धारा को समुद्र में निःशेष कर देती है तभी पूर्णता को प्राप्त होती है। 'पन्थ' भी भटकी हुई लहर के समान है, यदि वह लौट कर पुनः अपने जीवन से मिल जाता है तो असीम होकर अनन्त आनन्द प्राप्त करता है। नहीं तो मरुस्थल को नौका से पार करने के समान अयथोचित प्रयत्न

कौन करता है ? तत्वज्ञान, सम्यग्दर्शन और चारित्र के मार्ग में अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। पन्थों के दिग्भ्रम भी साधना मार्ग में भटकाने वाली पगडंडियां हैं। मुमुक्षु को इन वालरेखाओं से बचकर उस विराट् महापथ को खोज निकालना चाहिए जिसपर तीर्थंकरों के पदचिन्ह अंकित हैं, जिसे धर्ममार्ग के नाम से शास्त्रकारों ने अभिहित किया है। अहिंसा का सम्यक्त्वमूलक वह चारित्रमार्ग ही वास्तविक धर्म है जिसके उभयतः (दोनों ओर) अनेकान्त के गन्धवन महक रहे हैं। द्वादशांग के वैतालिक विरुदपदावली पढ़ रहे हैं। गणधरों के मानसपत्र पर उस दिव्य ध्वनि के सन्देश लिखे हैं। शास्त्रानुवचन से उसे गाते चलो, भक्ति के पुष्प कुम्हला न जाएं, शील का संवल छूटने न पावे, मूलगुणों का साहचर्य बना रहे, दिशानिर्देश के लिए उनकी आवश्यकता है । चलो, पन्थवाद से दूर, व्यक्तिप्रसूत इन व्यामोह क्रीडाओं से परे, वहां, जहां भगवान् वर्धमान के अमल चरण छविमान हैं। उन चरणकमलों के चिर चंचरीक बनकर अवगाहन करो अनन्त आनन्द समुद्र में। स्मरण रहे, भगवान् को पन्थों की मायाचारिता में सीमित न करो, उन्हें उसी वीतराग, मुक्तिसुन्दरीवल्लभ, निर्दोष रूप में नमन करो। 'शिवमस्तु सर्वजगतः, परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।' धर्म के समान ही अपने को सर्वजनीन रखो। उदार, सम्यग्दृष्टि और आत्मसाधना में तल्लीन।

निर्दोषचर्या का पालन करने वाले साधु पन्थवाद से दूर रहते हैं और जनता में सर्वहितकारी धर्म की चेतना को सप्राण करने में अपने शुद्ध भावों का उपयोग करते हैं। पन्थव्यामोह से परे रहकर वे सम्यग्दृष्टि साधु दिगम्बर, श्वेताम्बर, पीताम्बर, रक्ताम्बर सभी के लिए 'साम्यं मे सर्वभूतेषु' और 'वैरं मज्झं न केनवी' का समत्वमूलक आदर्श उपस्थित करते हैं। निर्झर के नीर के समान उनके वचनामृत को सभी पी सकते हैं। छायावान् वृक्षसदृश उनकी सन्तापहारिणी वाणी के स्वादुफलों को सभी पा सकते हैं। नदी के 'पाट' की तरह उनका हृदय विशाल होता है। कुलाचलों की ऊंचाइयां उनकी उन्नत भावभूमियों में समाहित रहती हैं। संसार उनकी सन्निधि में क्षुद्रताओं का विसर्जन करता है और उदारता का ग्रहणकर विभूतिमान् होने के प्रयास करता है। वे 'गुरु' होने से प्रकृत्या 'लघुता' से दूर रहते हैं। 'मुनि' होने से तत्वज्ञान उनकी मुद्रा में उद्भासित होता रहता है। चारित्र के उपदेष्टा, उन मुनियों में धर्म के साक्षात् दर्शन कर लोक अपने को कृतकृत्य अनुभव करता है।

'पन्थ' अपनी पुरातनता मात्र से प्रशस्य नहीं होते। 'रस' औषधियां पुराण होकर अधिक मूल्यवान् होती हैं और काष्ठादिवर्ग पुराण होने के साथ जीर्ण हो जाता है। इसीलिए कालिदास ने 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' कहा। सर्वोदयी धर्म के आचार्यों ने भी 'समीचीनं धर्मं देशयामि' कहकर उसे पन्थवाद की सीमाओं से मुक्त रखा है। सम्यक्त्वपूर्वक देखना और जानना तदनन्तर उसे चारित्ररूप देना, यह सूत्र जिस मार्ग का निरूपण करता है वहां धर्म को 'अन्धगज न्याय' से टटोलने की आवश्यकता नहीं, बाहर-भीतर की आंखें खोलकर आत्मना स्वीकार करने की स्थिति है।



निर्ग्रन्थ मुनि

निर्ग्रन्थ मुनि

पफ, पाउडर, स्नो, क्रीम, हेजलीन और पियर्स के इस युग में वेष-विन्यास में, बनाव-शृंगार में, अंगप्रसाधन में युगान्तकारी परिवर्तन हुए हैं। शिक्षा-दीक्षा में नितान्त भौतिक उपादानों, तौर-तरीकों का जंगल कुछ इतना सघन हो उठा है कि चलने के लिए मार्ग मिलना कठिन है। अन्तर्बाह्य परिग्रहों की तृष्णा ने मानव को दस्यु बना दिया है। शतप्रतिशत शिष्ट के स्थान पर शतप्रतिशत भ्रष्ट को अधिक 'सोशल' (सामाजिक) समझा जाता है। आचार पालने वाले, परलोक मानने वाले, तपश्चरण करने वाले, देव-गुरु में श्रद्धान रखने वाले व्रती पुरुषों को, सतीत्व की मर्यादा में एकनिष्ठ पतिव्रता स्त्री को, संस्कार धारण करने वाले सुकुमारमति बालकों को एक तिरस्कार, एक विद्रूप हँसी, एक निर्लज्ज अधमता के परिवेष में देखा जाता है। आडम्बर और अपने सहस्रकुण्ठाओं से कीलित जीवन पर धिक्कार भेजने के स्थान पर 'रूज' की क्रयक्रीत मुस्कान और भ्रष्टाचार-कालिमा से श्याम हुए मुखपर चिकनी मिट्टी और खड़िया (पाउडर) की सफेदी किए हुए ये आधुनिक भद्रजन अन्तर में कितने तप्त हैं, दुःखी हैं, यह वे ही जानते हैं। देशव्रत, परिग्रहव्रत न रखने से उनकी अर्थबुभुक्षा अनन्त के मुख के समान शतयोजनविस्तीर्ण है, जिसमें उनका दिन-रात, श्रम, बुद्धि और जीवन सब कुछ स्वाहा हुआ जा रहा है। भारतीय संस्कृति में जो कुछ है वह उनके लिए वृद्धपुराण है, त्याज्य है और मूर्खतापूर्ण है। स्नान, पूजन, देव-गुरु दर्शन, सात्विकता, आहार-पानी की शुद्धता उनके दृष्टिपथ में एक संकुचित मिथ्या संसार है जिसमें प्रवेश करते ही वे बौने हो जाएंगे, संकीर्ण और क्षुद्र हो उठेंगे। उन्हें तो पश्चिम के गौरांगों ने प्रभुत्व-काल में जो अपना नेपथ्य छोड़ा है, उसके ग्रहण करने में, आनन्द आता है। 'क्राइस्ट' धर्म की प्रतीक 'टाई' और उनकी सहविलास-गोष्ठी (क्लबों) से आज के भारतीय को, उस सती नारी के समान, जो विदेश गये हुए पति की पादुकाओं को पूजती है, अनुपम प्रेम है। अंग्रेज जाति को देश से निर्वासित करने पर भी उनकी सुरापानप्रवृत्ति को, आहार-विहार की स्वच्छन्दता को, भारतीयों ने हृदय से अपना लिया है। क्योंकि, इस नितान्त भौतिक आचारसंहिता में, उनके लिए उनकी इच्छा के अनुरूप छूट है, पवित्र आचरण के वे बन्धन (यदि मुक्तिसाधनों को तथाकथित परिभाषा में

बन्धन कहा जाए)—वहां उन्हें कदर्थित नहीं करते। किन्तु निरन्तर जलते हुए दीपक का तैल एक दिन चुक जाता है, आंधी के बीच पथ में खड़े हुए वृक्ष को एक अन्तिम धक्का कभी लगता है और गिराता हुआ निकल जाता है। इसी प्रकार रात-दिन ऑफिसों, क्लबों, थियेटर-सिनेमाओं, खानपान और रतिविलासों में अबाध विहार करते हुए इस मानव नामधारी प्राणी का जीवनश्वास निःशेष हो जाता है और तब यह अपने अर्जित पापों का अतिभार लेकर पुनः पुनः भवाब्धिलहरियों पर टूटे पोत के समान आन्दोलित होते रहने के लिए कूच कर जाता है। कितनी गहनवेदना होती है उसे, कितना पछतावा उसके प्रयाण कालीन मुख पर छायालक्षित होता है, किस बेमन से वह तन को छोड़ता है, कितनी सतृष्ण दृष्टि से देखता है अपने विदा होते हुए जीवन क्षणों को, इसे उस अवस्था के भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। हा! गया, परिश्रम से उपार्जित यह भवन-सम्पत्तिकोष और स्नेह ममता प्यार दुलार के जीते-जागते, मुस्कुराते ये पारिवारिक स्वजन! उसकी शय्या को परिवारित कर खड़े हैं। हा! आंखों की ज्योति धीरे धीरे मन्द होती जा रही है, दीपक का तैल चुक गया अब तो यह अन्तिम टिमटिमाहट शराव में उतर कर बत्ती को खाये जा रही है। बस, थोड़ी देर और। इसके बाद राख हुई बत्ती से चिता के चिरायंध को फैलाता धुआं उठेगा और दीपक बुझ जाएगा। अब क्या करूं? आंखों में तैर रहे हैं अतीत के वे सभी विलास, मैदानों में दौड़ता घूपता वह उद्दाम यौवन। वे तितली के पंखों के समान, इन्द्रधनुष के सप्तरंगों के अनुहार विषय, जो खुली आंखों से, स्वप्न के समान ओझल होगये। अरे! मुझे जिस यात्रा पर अब जाना है उसका पाथेय तो लिया ही नहीं। जीवन में सोचा भी नहीं कि कभी आगे यात्रा पर जाना पड़ेगा और तब गांठ में कुछ न होने पर कितनी कठिनाई बढ़ जाएगी। कोई विवेकी पुरुष बिना द्रव्य के प्रवास की यात्रा पर निकलता है? ओह! मैंने जो कुछ, जितना भी अर्जित किया वह तो यहीं धरा रह गया। हन्त! इस शरीर के लिए कितना अशुभ संचित किया किन्तु यही दगा दे गया। अब, जब प्यास से गला सूखने लगा तो कुआ खोदने की याद आई है। किन्तु 'प्रोद्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः'—यह उद्यम हास्यास्पद नहीं है क्या? मैंने तो वासनाचंचल होकर आम की कच्ची अंबिया का खट्टा आस्वादन ही किया, संयम के कालप्राप्त पके हुए रसीले फलों का माधुर्य तो जाना ही नहीं। जिस प्रकार सागर के तटपर क्षुद्र सीपियां, शंख और सूखे हुए फेन के कुछ टुकड़े पड़े रहते हैं और बहुमूल्य रत्न-

मणियां अंतस्तल में प्रच्छन्न पड़ी रहती हैं उसी प्रकार क्षुद्रविषयों ने मेरे जीवनतट को घेरे रखा और आत्मा की पद्मरागमणि को मैं देख भी नहीं पाया। इतने मूल्यवान् रत्न को अपनी अज्ञान-गूदड़ी में छिपाये हुए मैं दरिद्र बना रहा आज शुक की आंखों के समान जब सब लालित-पालित विषय मुंह मोड़ चले तब सच्चे मित्र का स्मरण हुआ है। वह सच्चा मित्र आत्मा ही है—आत्मा को छोड़ कर अन्य कोई मित्र नहीं है। इस आत्मा को जानना, उसका उद्धार करना प्रथम धर्म है। शास्त्रकार कहते हैं—

'आदिहिदं का दव्वं जदि सक्कई परहिदं च का दव्वम।
आदिहिद-परहिदादो आदि हिदं सुट्ठु का दव्वम्॥'

इस संसार में आत्मा का हित करना ही सर्वोपरि है। यदि किसी में ऐसा सामर्थ्य हो कि अपनी कल्याणसाधना को निर्बाध रखते हुए वह अन्य का भी हित-साधन कर सके तो उसे अन्य जीवों का भी कल्याण करना चाहिए। किन्तु आत्म-हित का व्याघात कभी नहीं होने देना चाहिए। कहते हैं—

'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥'

अपने आत्मा से ही अपने आपका उद्धार करना चाहिए। अपने आत्मा को अवसाद में नहीं डुबाना चाहिए। क्योंकि, यह आत्मा ही अपना मित्र है और इसी की उपेक्षा अपना शत्रु है। जिस प्रकार स्पर्शमणि और लोहे के बीच में यदि एक कागज भी वर्तमान है तो उससे लोहे का सुवर्ण नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा के ऊपर यदि अल्प भी मलआवरण है तो आत्मा का उन्मुक्त ज्ञान प्रकाशित नहीं होता। दर्पण में निरभ्र आकृति देखने के लिए जिस प्रकार उसका नितान्त स्वच्छ होना अपेक्षित है, उसी प्रकार आत्मा का भी स्फटिक के समान निर्मल धौत होना आवश्यक है। तभी उन्नति का मार्ग सूझता है। कहा है—'शुद्धे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति'—चित्त शुद्ध होता है तो उसमें निर्मल बुद्धि का प्रस्फुरण होता है। यह निर्मल बुद्धि ही आत्महित की ओर प्रेरित करती है। क्योंकि—'बुद्धेः फलं ह्यात्महितप्रवृत्तिः' बुद्धिका फल आत्महित की ओर प्रवृत्ति करना है।

'बुद्धेर्बुद्धिमतो लोके नास्त्यगम्यं हि किंचन'—इस संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो बुद्धिमान् की बुद्धि से अगम्य हो। बुद्धि से ही मनुष्य अन्य जीवों से श्रेष्ठ है, नक्षत्रों के देश में जा सकता है, ज्ञान-विज्ञान की सुदूर दुनिया में प्रवेश पा रहा

है। बुद्धि से ही उसने शरीर और आत्मा के द्वैध को पहचाना है। संसार में घटित होने वाले प्रविष्णु विलासों को उसने बुद्धि की शितधारा पर परखा है। जाना है कि 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते'—काम को काम्यपदार्थों का उपभोग कर के विजित नहीं किया जा सकता। कामनाओं में उन्मुक्त छोड़ देने से तो वह अग्नि में दी हुई घृत की आहुति के समान बढ़ता ही है। मन को उपवास, शौच, आचार, ध्यान, समाधि-अवस्थाओं से निर्विषय कर देने से ही कामभोगों का क्षय किया जा सकता है। निरन्तर अभ्यास और तीव्र वैराग्य भावना से राग में फंसा हुआ मन पवित्रता को ग्रहण करने लगता है तब उसकी मानसिक स्थिति कांचन और मिट्टी को समान देखने लगती है। 'अन्धवत् पश्य रूपाणि शृणु शब्दमकर्णवत्'—कि रूप की दुनिया को अन्धे के समान देखो, संसार के कोलाहल को अथवा रमणी की नूपुर ध्वनि को बधिर के समान सुनो। तात्पर्य यह कि बाह्य सौन्दर्य से अभिराम प्रतीत होने वाले जड़ पदार्थों को जड़ ही समझो, उन्हें देखकर चंचल क्षुब्ध मत होओ। क्योंकि, नीरोग व्यक्ति भेषज की इच्छा नहीं करता, तृप्त के सामने बहता हुआ अपरिमित नदी-नीर भी उसमें तृष्णा नहीं जगाता। इसी प्रकार जिसके बुद्धियुक्त ज्ञाननेत्र खुलगये हैं वह सभी उपभोग्य पदार्थों के होते हुए भी चलायमान नहीं होता। उसकी मनः स्थिति धीर हो जाती है। महाकवि ने कहा है—'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः'—विकार के सभी साधनों के रहते हुए भी जिनके चित्त नहीं डोलते वे ही धीर हैं। यों तो विवश होकर 'तुरग ब्रह्मचर्य' सामान्य जन भी करते देखे जा सकते हैं।

बुद्धिअनुगत ज्ञान-दृष्टिपरिकल्पित यही वह अवस्था है जब मनुष्य योगी होने के लिए ललकता है। उसे घरमें रहना बन्धन प्रतीत होने लगता है। स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब की ग्रन्थियों को खोलकर आन्तर-बाह्य समस्त परिग्रह को त्यागकर उसका मन परिव्राजक बनने के लिए आतुर हो उठता है। जिस प्रकार थाली में पड़ा हुआ पारा चंचल रहता है उसी प्रकार उसके मनप्राण बन्धन-स्थाली में आन्दोलित रहते हैं। पंख निकलने की प्रतीक्षा में आकुल पक्षी के समान उसकी पवित्र अभिलाषा क्षितिज के उस पार उड़ने को मचल-मचल उठती है और तिनकों को बीन २ कर बनाया हुआ नीड उसे पीड़ा देने लगता है। वह बार-बार अपने आत्मा से बात करता हुआ कह उठता है—

'एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदा शम्भो ! भविष्यामि कर्मनिर्मूलन-क्षमः ॥
—(भर्तृहरि वैराग्यशतक)

हन्त ! कब वह समय आएगा जब मैं सब से अलग अकेला, सम्पूर्ण इच्छाओं से रहित, शान्तचित्त, पाणिपात्र और दिगंबर होकर अपने अनादिकर्मों का निर्मूलन करूंगा । भर्तृहरि ने ही यह भी सूक्ति कही है कि—

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकममलिनं तल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषां निःसंगतांगीकरणपरिणतिः स्वात्मसन्तोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥५७॥

अर्थात् पाणि (हाथ) ही जिनका पात्र है, जो निरन्तर भ्रमणशील हैं, भिक्षा से प्राप्त अन्न का ही आहार लेते हैं, दशों दिशाएं जिन्हें वस्त्र के समान हैं, यह विस्तीर्ण वसुन्धरा जिन की शय्या है, परिग्रहत्याग में जिनकी स्वाभाविक परिणति है वे अपने आत्मा में ही मग्न रहकर सन्तोष धारण करने वाले, समस्त आधि-व्याधियों और दैन्यके परिकर से रहित महात्मा धन्य हैं, वे ही कर्मों के निर्मूलन में समर्थ होते हैं ।

इस प्रकार की विधिवत् दीक्षा ग्रहण करने वाले मुनि कहलाते हैं वे राग-परिग्रह से रहित, मूलगुणों के धारण करने वाले, शत्रु-मित्र में समान, अपने आत्मा में ही विचरण करने वाले, भगवान् जिनेन्द्र की साक्षात् दैगम्बरी मुद्रा के धारक निगंठ होते हैं । किसी प्रकार की गांठ नहीं रखते । विषयविकार उन्हें छू भी नहीं सकता । वे सदैव सामायिकपरायण, धर्मचर्या से सम्पन्न, अरागी, अद्वेषी तथा सर्वभूतानुकम्पी होते हैं । उनके पवित्र दर्शन भाग्यों के उत्कर्ष को सूचित करते हैं । उनकी तेजस्विनी किन्तु प्रशान्त मुखमुद्रा को देवराज इन्द्र सहस्र लोचनों से अपलक देखता है । उनके कमण्डलु को धारण करने के लिए सौधर्म-सभा के देव अहम्पूर्व अहम्पूर्व कहकर स्पर्धा करते रहते हैं । वे अमित पुण्यों के पुंज होते हैं, अक्षय लोकों की ओर प्रवृत्त रहते हैं । भेद ज्ञान से इसी भव में मोक्ष-सिद्धि कर लेते हैं । ये रत्नत्रय को धारण करते हैं । ये निर्ग्रन्थ मुनि सर्वत्यागी होते हैं । अन्तर्-बाह्य सभी परिग्रहों को त्याग कर आत्मरति द्वारा मोक्ष साधन में प्रवृत्त होते हैं । उन्हें किसी की पूजा अथवा निन्दा से प्रसाद अथवा विषाद नहीं

होता। कोई उन्हें पारिजात के अम्लान पुष्पों से पूजे अथवा क्रोध कर गले में सर्प डाल दे; उनके प्रति भक्ति करे या विरक्ति। वे समभावी रहकर अपने सम्यक्त्व को कभी नहीं छोड़ते। उपसर्गों से पीडित नहीं होते तथा अपने सामायिक में परायण रहते हैं। ज्ञानार्णव में साधु के स्वभाव का निरूपण करते हुए इसी आशय का एक भावपूर्ण श्लोक है—

> एकः पूजां रचयति नरः पारिजातप्रसूनैः
> क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्यः।
> तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी
> साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥२७॥

किन्तु यदि मन में रागादि परिग्रहों को अवकाश देकर केवल बाह्याचार में इनका परित्याग प्रदर्शित किया गया तो वह वास्तविक त्याग न होकर केवल मायाचार ही कहा जाएगा। क्योंकि, त्याग का प्रभव तो अन्तरात्मा ही है। परमात्मप्रकाश का उपदेश है कि—

> केण वि अप्पउ वंचियउ सिस लुंचिवि छारेण।
> सयल वि संग ण परिहरिय जिणवर लिंग धरेण ॥९०॥

यदि किसी ने दिगम्बर मुनि का वेष धारण कर भस्म से केशों का लुंचन किया किन्तु परिग्रह नहीं छोड़ सका तो उसने वास्तव में दूसरों को वंचित करने के स्थान पर अपने आपको ही ठगा। लोकप्रवाद भी है कि कौड़ी संग्रहीता त्यागी का मूल्यांकन कौड़ियों में ही किया जाता है। त्यागी का परिग्रह तो शास्त्रस्वाध्याय और जिनभक्ति है।

ये दिगम्बर मुनि पदयात्री होते हैं और किसी भी वाहन का उपयोग नहीं करते। अहोरात्र के चौबीस घण्टों में केवल एकबार अपने हाथों की अंजलि बनाकर उसी में खाने-पीने का पदार्थ आहार रूप में ग्रहण करते हैं। पानी भी आहार के साथ ही ले लेते हैं और पश्चात् किसी भी रूप में आहारपान नहीं करते। दूसरे ही दिन नियत समय पर पुनः शुद्धिपूर्वक निर्दोष सात्विक भोजन लेते हैं। उसमें भी पूर्ण सावधानी रखते हैं और थोड़ा भी नियम विरुद्ध हो तो बीच में ही आहार त्याग कर 'अन्तराय' पालन करते हैं। अन्तराय और स्वेच्छागृहीत व्रत एवं दिन में एक बार ही आहार लेते रहने से इनका शरीर कृश रहता है। ये पूर्ण ब्रह्मचारी, स्वाध्यायी और उदासीन होते हैं। मुनिव्रत धारण करने के पश्चात् ये परिवार, पुत्र, माता-पिता तथा अशेष कुटुम्ब से रागादि छोड़ कर नितरां एकाकी हो जाते

हैं। निरन्तर विचरण कर जन-जन को सद्धर्म का उपदेश करते हैं। केवल वर्षाकाल के 'चतुर्मास' एक स्थान पर रहकर बिताते हैं। क्योंकि, वे पदाति चलते हैं और वर्षा में उत्पन्न होने वाले अनन्त कीटों से पृथ्वी पूरित हो जाती है, अतः चलने में हिंसा होने की सम्भावना रहती है तथा पानी के कारण गतिपथ अवरुद्ध हो जाते हैं इत्यादि कारणों से वर्षा के चारों मास चलने योग्य नहीं रहते।

दिगम्बर मुनि को दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व ब्रह्मचारी, क्षुल्लक तथा ऐलक अवस्थाओं के कठोर परीक्षण में से गुजरना पड़ता है। इन अवस्थाओं में आहार, पान, तथा वस्त्राच्छादन के उपकरणों को शनैः शनैः कम कर देना होता है और 'ऐलक' अवस्था में केवल एक गुह्य वस्त्र रह जाता है। यह पूर्ण दिगम्बरत्व का पूर्वाभ्यास है, तैयारी है। जब गुरु (आचार्य) उसे मुनिव्रत के पूर्ण योग्य देखते हैं तो एक दिन सारे चतुर्विध संघ के समक्ष उसका वह लंगोट भी खोल देते हैं और सर्वथा नग्न मुद्रा धारण करने की दीक्षाविधि सम्पन्न करते हैं। इस दीक्षाविधि के पूर्व जो आवश्यक-अपेक्षित है, उसका वर्णन प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार किया है—

> आपिच्छ बन्धुवग्गं विमोचिदो गुरु-कलत्त-पुत्तेहिं
> आसिज्ज णाण-दंसण-चरित्त तव वीरिया यारं।
> समणं गणिं गुणड्ढं कुलरुववयोवि सिट्ठ-मिट्ठदरं
> समणेहि तं पि पणदोपडिच्छ मंचेदि अणुगहिदो ॥३॥

जो मुनि होना चाहता है वह पहले अपने कुटुम्बीजनों से पूछे, अनुमति ग्रहण करे, माता-पिता-स्त्री-पुत्रों से प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति प्राप्त करे ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप और वीर्य के पंचाचारों से युक्त आचार्य की सेवा में उपस्थित होवे, जो कि कुल से, गुणों से, योग्य हो, विशिष्ट हो, उन्हें सविनय निवेदन करे कि हे भगवन्! आप मुझे श्रामण्य प्रदान करें। तब आचार्य उसे दीक्षा का उपदेश कर अंगीकार करते हैं।

आचारसार में इसी आशय को निम्न श्लोक में व्यक्त किया है—

> ततस्तदाज्ञामृतपानपुष्टो, निर्बन्धगन्धद्विपवत्प्रहृष्टः।
> बाह्यान्तरंगं परिहृत्य संगं, शस्ते मुहूर्ते स्थिरलग्नपूर्ते ॥१७॥

अर्थात् अपने बन्धु-बान्धवों से सहर्ष अनुमति लेकर पूज्य आचार्य की आज्ञा रूप अमृत को पान करके बन्धन से मुक्त हुए गन्धद्विप (गज) के समान प्रसन्न हो,

बाह्य तथा आभ्यन्तर संग को त्याग कर स्थिर लग्न वाले प्रशस्त मुहूर्त में मुनि-दीक्षा लेनी चाहिए। स्थिर लग्न का निर्देश करने से 'चर लग्न' में दीक्षा लेने का निषेध किया गया है। दीक्षा शब्द की निरुक्ति में तन्त्रवार्तिक का प्रसिद्ध पद्य इस प्रकार है—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धनम्।
दान-क्षपण-सामर्थ्याद् दीक्षा सा कथिता बुधैः॥

दीक्षा का आद्य अक्षर ज्ञानसद्भाव-दानपरक है तथा अन्त्य अक्षर पशु-बन्धन जन्म बन्धन के क्षय का सूचक है। इस प्रकार दान और क्षपण के सामर्थ्य से युक्त विधि को 'दीक्षा' कहा है।

यद्यपि दीक्षा के यथोल्लिखित अर्थ में ऐसे सर्वस्पृहणीय व्रत का निर्देश है जिसे सभी ग्रहण करने को उत्सुक होंगे किन्तु महाव्रतों का, शौचाचार का, चारित्र-पालन का मार्ग अतिशय कठिन है। क्योंकि पंचमकाल में मनुष्यों की बुद्धि धर्म-ध्यान से प्रायः विमुख रहती है, चित्त में वासना-विषय-विकारों का कषाय विद्यमान रहता है। लोभ-मोह-परिग्रह पीछा नहीं छोड़ते। समाज तथा राष्ट्र का वाता-वरण धर्मभूमि के लिए सर्वथा अनुकूल नहीं होता। सोमदेव ने लिखा है कि ऐसे अवसर्पिणीकाल में भी जब कि लोग अन्नकीट हैं अर्थात् खाने लिए जीते हैं और पेट को भक्ष्याभक्ष्य का भण्डार बना रखते हैं, यदि कोई वीतराग निर्ग्रन्थ मुनिचर्या का पालन करते देखे जाते हैं तो यह नितान्त आश्चर्य की बात है। श्लोक इस प्रकार है—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः॥८०॥

यह धर्म सर्वोदयी है और अनादिकाल से, परम्परा-प्राप्त चला आ रहा है। अतः इस प्रकार के सर्वोदयी तीर्थ की सत्ता अक्षुण्ण रखने के लिए यतिपरम्परा का अविच्छिन्न रहना आवश्यक है। सागारधर्मामृत में लिखा है—

जिनधर्मं जगद्बन्धुमनुबद्धुमपत्यवत्।
यतीन् जनयितुं यस्येत्तथोत्कर्षयितुं गुणैः॥

जैनधर्म जगद्बन्धु है, संसार भर को कल्याणमार्ग दिखाने से बन्धु के समान है। जिस प्रकार सन्तान परम्परा से वंश-बेल की रक्षा की जाती है उसी प्रकार इस सर्वोदयी धर्म की रक्षा के लिए गृहस्थों को त्यागीवर्ग की स्थिति बनाने

में प्रयत्न करते रहना चाहिए और उन त्यागियों के ज्ञानादि गुणों के उत्कर्ष में सहाय करना चाहिए।

किन्तु यह व्रतविधान योग्य गुणसम्पत्तिमान् को ही देना चाहिए। जैसे तैसे को देने से इसकी मर्यादा, उत्तमत्व तथा पवित्रता संशयापन्न हो जाती हैं। अतः जो कुलीन हो, धार्मिक हो, व्यसनों से सर्वथा मुक्त हो, शास्त्रवेदी हो, स्वाध्याय-परायण हो, वाक्संयमी, आहार-पानसंयमी और ब्रह्मचर्य पालन में सक्षम हो, उसे ही व्रत देना शास्त्रों में अनुमोदित किया गया है। न केवल इतना ही, अपितु—

> बाले वुड्ढे नपुंसे य कीवे जड्डे य वाहिए।
> तेणे रायावगारीव उम्मत्ते य अदंसणे॥
> दासे दुट्ठे य मूढे अणत्ते जुंगिये इ य।
> उबद्धए च भयरा सेहनिप्फिडिया इ य॥२८॥

परीक्षाप्रधानी आचार्यों का अभिमत है कि जो बालक हो, वृद्ध हो, नपुंसक हो, अंगहीन (विकलांग) हो, जड़, रोगी, चोर, राजापराधी, उन्मत्त, अन्ध, दास, दुष्ट, मूढ, ऋणार्तिपीडित, जुंगित, कैद पाया हुआ, भाग कर आया हुआ तथा इसी प्रकार के अन्यान्य हीन अथवा सापराध आचरणों वाला हो उन्हें दीक्षा नहीं देना चाहिए। क्योंकि साधुत्व जैसा उत्तम रत्न यदि विशुद्ध सुवर्ण में नहीं लगाया जाएगा तो उसका मूल्य और उपयोग दोनों ही हत हो जाएंगे। नीतिकार कहते हैं कि—

> कनकभूषणसंग्रहणोचितो, यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते।
> न स विरौति न चापि च शोभते, भवति योजयितुर्वचनीयता॥

अर्थात् यदि सुवर्ण में संग्रहणीय मणि त्रपु अर्थात् रंग में (रांगा में) लगा दी जाए तो उसकी शोभा नष्ट हो जाती है तब न वह शब्दायमान होती है और न शोभित होती है। और जो ऐसा मणि-त्रपु संयोग करता है उसकी भी निन्दा होती है। निम्न श्लोक में दीक्षा-ग्रहण का क्रमनिर्देश किया गया है—

> प्रथमं ब्रह्मचारीसंचार्यानन्तरं क्षुल्लकदीक्षाम्।
> ऐलकदीक्षां धृत्वानन्तरमपि वर्ततेऽत्र निर्ग्रन्थः॥

सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य दीक्षा, अनन्तर क्षुल्लक और ऐलक-दीक्षा तदनन्तर निर्ग्रन्थ (नग्न मुनि) दीक्षा दी जाती है। दीक्षा के समय बृहत्सिद्धभक्ति और योगिभक्ति का पठन करना चाहिए। केशलोंच, दीक्षा-नाम धारण, नग्नावस्था

तथा पिच्छि कमण्डलु धारण करना 'दीक्षा' विधि कही जाती है। परम्परानुसार दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् सिद्धभक्ति का पाठ करना चाहिए।

दीक्षित मुनि परिव्राजक होता है क्योंकि वह सब कुछ परित्याग कर देता है। वह मुनि होता है क्योंकि उसके ज्ञानचक्षु उन्मीलित हो जाते हैं। लोकोपकार तथा आत्माराधन के कारण उसे साधु कहते हैं। नग्नावस्था धारण करने से वह 'निग्गण्ठ' होता है। उसे मोक्षसिद्धि के लिए अवसर मिल जाता है। योगसार का वचन है कि—

> अप्प समाणा दिट्ठा जीवा सव्वेवि तिहु अणत्थावि।
> जो मज्झत्थो जोई णव तूसइ णेव रूसेइ॥ ६॥

जिसने त्रिभुवनस्थ सम्पूर्ण जीवों को आत्मसमान देख लिया है वह मध्यस्थभाव को धारण करने वाला योगी किसी सुख-दुख:-अवस्थाविशेष से न तुष्ट होता है और न रुष्ट होता है। इसी अवस्था को 'वीतराग' अवस्था कहते हैं। मुनियों की रागद्वेष-अतीत अवस्था के प्रसंग में राजा श्रेणिक से संबद्ध एक कथा प्रसिद्ध है। वह इस प्रकार है—

महाराज श्रेणिक ने अपने मूढ आग्रह से एक बार किसी दिगम्बर मुनि के कण्ठ में मृत सर्प डाल दिया था। वह सर्प तीन दिन तक मुनि के गले में पड़ा रहा। अन्ततः चेलना रानी के समझाने से मन में वह खिन्न हुए। जब उस सर्पशव को मुनि के गले से निकाल लिया गया तब उपसर्ग दूर हुआ समझकर मुनिराज ने मुंह खोला और सर्वप्रथम कहा 'युवयोर्धर्मवृद्धिरस्तु' तुम दोनोंकी (चेलना और राजाकी) धर्मवृद्धि हो। सुनते ही राजा श्रेणिक के हृदय में पश्चात्ताप की अग्नि प्रज्वलित हो उठी जिसमें उनका अशुभ परिणाम जलकर भस्म हो गया। पुण्य के उदय से उन्हें यह ज्ञान हुआ कि अहो! कहाँ तो मैं दुष्ट, जिसने तीन दिनों तक एक वीतराग मुनि को कष्ट पहुँचाया और कहाँ यह रानी चेलना, जो उपसर्ग निवारण के लिए दौड़ी आई। किन्तु मुनिराज ने तो हम दोनों को ही समभाव से एक समान आशीर्वाद दिया—युवयोर्धर्मवृद्धिरस्तु—तुम दोनों की धर्मवृद्धि हो, यदि 'धर्मवृद्धि' मात्र आशीर्वाद ही देना अभीप्सित था तो रागानुबन्धी होते तब पहले चेलना को और फिर मुझे धर्मवृद्धि देते किन्तु इन्होंने तो यह क्रम भी नहीं रखा। उपकारी और अपकारी दोनों को अपने रागातीत स्वभाव से समान आशीर्वाद देकर कृतार्थ कर दिया। इनके हृदय में साम्यभाव है। ये मुनि अट्ठाईस मूलगुणों के धारक हैं।

मूलाचार में उन गुणों का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

पंच य महाव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा ।
पंचेविंदियरोहा छप्पी आवासया लोचो ॥ ४ ॥
अच्चेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव ।
ठिदि भोयणेगभत्तं मूलगुणा अट्ठवी साधू ॥ ५ ॥

अर्थात् पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक, केशलोंच, अचेलक्य, स्नान न करना, पृथिवी पर शयन, दांतों को न घिसना, खड़े होकर ही आहार लेना, दिन में एक ही बार आहार, ये मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण हैं । चारित्रशुद्धि के लिए दिगम्बर मुनि को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को सम्यक् प्रकार से जानकर तथा ध्यान अध्ययनपूर्वक आचरण में प्रवृत्त होना चाहिए ।

महर्षि पुष्पदन्त ने दीक्षा को कर्मों के नाश का मार्ग माना है । उनका कथन है कि—

दीक्षां गृह्णन्ति मनुजाः स्वकर्महरणाय च ।
स्वपुण्यवृद्धये केचित् केचित् संसृतिमुक्तये ॥

कुछ व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करते हैं अपने कर्मों के नाश के लिए, कुछ पुण्य-वृद्धि के लिए और कुछ संसार से मुक्त होने के लिए ।

इस दीक्षा को ग्रहण करने के लिए कौन-सी अवस्था उपयुक्त है, इसका निर्धारण किसी विशेष नियम के अधीन नहीं है । भला, वैराग्य धारण के लिए, जिसमें सभी कुछ त्यागने का भाव है किसी विशेष अवस्था का (शैशव, यौवन, वार्धक्य) का बन्धन कैसा ? नीतिकार कहते हैं—यदहरेव विरज्येत् तदहरेव प्रव्रजेत्–अर्थात् जिस दिन तीव्र वैराग्य का उदय हो, उसी दिन घर छोड़ देना चाहिए । ग्रह, चन्द्र, वार आदि मुहूर्तों का जड़ नियम तो संग्रह के लिए द्रष्टव्य है, जिसमें सर्वस्वविसर्जन का भाव हो, उसके लिए वेला क्या और मुहूर्त क्या ? उतार फेंको ये चीवर, बदल दो परिग्रहों के बन्धन में अनादिकाल से निगडित आत्मा की दुर्बलता को, प्रमाद के पाशों को छिन्न-भिन्न कर दो और सावधान हो जाओ, उठो, तुम्हें तुम्हारे पुण्यों ने आमन्त्रण भेजा है, धर्मचर्या के मार्ग तुम्हारे पदचिह्नों को उठाने के लिए आकुल हैं, मोक्ष के शिखर खड़े तुम्हें पुकार रहे हैं । ओ आत्मपुरुष ! ओ रे ! अखण्डज्ञान के पुंज ! अन्तहीन शक्तियों के ज्योतिर्मण्डल ! आवरण की

निद्राओं को चीरकर सूर्य के समान आलोक से त्रिभुवन को जगमग कर दो। तुम्हारी शक्ति के अनन्त विस्तार को, जो अभी संकोचावस्था में सन्देह के शीत से ठिठुरा पड़ा है, विस्तार दो। तुम महाप्राण हो। यदि शैशव बीत गया, यौवन चला गया और जर्जर बुढ़ापा आ गया तो भी क्या? शैशव, यौवन वार्धक्य को शरीर के लिए रहने दो, आत्मा को पहचानो, वह सदैव अजर है, उसी के संबल पर आज ही संन्यास लो और जीवन के बचे हुए श्वासमौक्तिकों को निद्रा-तन्द्रा-आलस्य-पाप आदि के अन्धसमुद्र में गिरने से बचा लो। सुनो, क्षत्रचूडामणिकार तुम्हारे ही लिए कहते हैं—

वयस्यन्तेऽपि वा दीक्षा प्रेक्षावद्भिरपेक्ष्यताम् ।
भस्मने रत्नहारोऽयं पण्डितैर्नहि दह्यते ॥१८॥

जिनके विवेक का उदय हो गया है, उन्हें विना संकोच अन्तिम वय में भी (वृद्धावस्था में भी) दीक्षा ले लेनी चाहिए। अरे! यह शरीर तो भस्म है, मिट्टी है इसके लिए रत्नहार को जलाना पण्डितों का काम नहीं। सुनो, कितना मर्मभेदी प्रबोध है यह, कितनी गम्भीर गर्जना है यह। यदि इसे सुनकर भी नहीं चेते तो डोली उठने पर, हंस के उड़ जाने पर, श्मशानशय्या पर उठ-बैठना, चेतना असम्भव है।

परिव्राजक का वह सर्वत्यागी, आत्माराम जीवन सदैव त्रिकाल नमस्य है। यह रत्नमणियों की वर्षा है, जिसे कोई रोकना नहीं चाहेगा। क्षत्रचूडामणिकार कहते हैं—

प्रव्रज्या जातुचित् प्राज्ञैः प्रतिषेद्धुं न युज्यते ।
न हि खादापतन्ती चेद् रत्नवृष्टिर्निवार्यते ॥

यह मार्ग सच्चे मन से ग्रहण करनेवालों के लिए ही है। केवल आडम्बर पालन करने वालों को इस में नहीं आना चाहिए। क्योंकि, यह द्विधार खड्ग की वीथि है, जिसपर कुशल साधक तो चल सकता है किन्तु ढोंग करने वाले दम्भी के पैर कट जाने का भय है। रत्नाकरपंचविंशति में लिखा है—

वैराग्यरंगः परवंचनाय धर्मोपदेशो जनरंजनाय ।
वादाय विद्याध्ययनं च मेऽभूत् कियद् ब्रुवे हास्यकरं स्वमीश ॥६॥

(भक्त भगवान् के समक्ष अपनी विनम्रवृत्ति का अर्घ्य देते हुए निवेदन करता है) हे भगवन्! मेरा वैराग्य का वेष संसार को ठगने के लिए है, धर्म का उपदेश लोगों के मनोरंजन के लिए कि वे मुझ पर प्रसन्न रहें, इसलिए है, विद्या-

अथवा वाद-विवाद के लिए—शास्त्रार्थमहारथी बनने के लिए है, हे प्रभो! मैं अपने हास्यकर चरित्र का कहां तक वर्णन करूं। किन्तु यह तो विनयभक्ति है, यदि वास्तव में कोई मिथ्यारूप से 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद्' का आचरण करे तो वह श्लाघनीय नहीं।

निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि अहोरात्र में एक बार ही आहार लेते हैं। आहार का समय सूर्योदय के तीन घड़ी बाद और सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व, नियत है। वह उत्तम एक मुहूर्त, मध्यम दो मुहूर्त और जघन्य तीन मुहूर्त है। यह एक भुक्ति कहलाता है। योगियों को एक समय ही आहार लेना योग्य है। लोकप्रवाद भी है कि—'एक बार योगी, दो बार भोगी और तीन बार रोगी भोजन करता है।' आहार लेते समय संसारी जनों का और मुनि का दृष्टिकोण भी भिन्न होता है। संसारिक प्राणी भोजन में रस लेता है और उस से पुष्टि की कामना करता है। संसार के निसर्ग व्यसनों से पराभूत होने से उसे भोजन की पौष्टिकता, रुचिकरता, विविधता आदि की अपेक्षा रहती है किन्तु मुनि तो प्राणधारण के निमित्त ही आहार ग्रहण करते हैं। प्राणों को धारण करने की भावना भी धर्म और मोक्ष के निमित्त ही होती है। मूलाचार में लिखा है—

> अक्खोमक्खणिमित्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं ।
> पाणं धम्मणिमित्तं धम्मपि चरंति मोक्खट्ठं ॥५०॥

जिस प्रकार गाडी को गतिशील रखने के लिए उसके धुरे को स्निग्ध करते हैं (चुपड़ते हैं) उसी प्रकार कायमें प्राण बने रहें इसी लिए मुनि आहार लेते हैं। रयण सार का वचन है कि—

> भुंजेइ जहालाहं लहेइ जइ णाण संजमणिमित्तं ।
> झाणज्झयणणिमित्तं अणियारो मोक्खमग्गरओ ॥११३॥

मुनि यथालाभ—जैसा मिल गया वैसा ही आहार ले लेते हैं। अर्थात् शुद्धि के नियमों के अधीन रहकर आहार-दान लेते हुए उन्हें उसकी पौष्टिकता, स्वादुता आदिका ध्यान नहीं रहता केवल संयम और ज्ञान तथा ध्यान और अध्ययन की साधना के लिए जो मिल गया उसे भक्तिपूर्वक ग्रहणकर मोक्षमार्ग में लीन रहते हैं। परमात्मप्रकाश का अभिमत है कि—

> जे सरसिं संतुट्ठमण विरसि कसाउ वहंति ।
> ते मुणि भोयणघार गणि णवि परमत्थु मुणंति ॥१११॥

अर्थात् जो मुनि स्वादिष्ट आहार मिलने से हर्षित होते हैं तथा नीरस आहार मिलने से क्रोधादि कषाय करते हैं वे मुनि भोजनविषय में गृध्नु हैं और परमतत्व नहीं जानते । क्योंकि, भोजन के पदार्थ तो शरीर संवर्द्धन के लिए होते हैं और उनकी मिताशिता से संयमधारण और आत्मसाधना का व्रत सुखपूर्वक पालन किया जा सकता है । अतः अधिक भोज्यपदार्थ लेना तो कायवृद्धि करना ही है न कि आत्मोत्कर्षसाधन । जो तत्ववेत्ता हैं वे इस तथ्य को जान कर हित-मितभुक् होते हैं । यदि मुनियों का मन उत्तम व्यंजनों के लिए आग्रही होगा तो इस से सामान्य श्रावकों (गृहस्थों) पर भार पड़ेगा । आचारसार ने स्पष्ट लिखा है कि—

> भृ ंगः पुष्पासवं यद्वत् गृह्णात्येकगृहेऽशनम् ।
> गृहिबाधां विना तद्वद् भुंजीत भ्रमराशनः ॥१२७॥

जिस प्रकार भ्रमर (भँवरा) पुष्प को बाधा पहुंचाये बिना उसके रस को ग्रहण करता है उसी प्रकार गृहस्थ को किसी प्रकार की (आहारसम्बन्धी विशेष आयोजनादि की) बाधा न देते हुए मुनियों को आहार लेना चाहिए ।

भिक्षु (मुनि) के आहार की विधि का निरूपण करते हुए 'रयणसार' में निर्देश किया गया है कि—

> उदराग्गिसमणमक्खमक्खणगोयार सब्भपूरणभमरं ।
> ण ऊण तप्पयारे णिच्चेवं भुंजए भिक्खु ॥११४॥

अर्थात् आगम में आहार सम्बन्धी भिक्षुचर्या की विधि पांच प्रकार की निरूपित की गई है । यथा—१. उदराग्निप्रशमन (जितने से पेट की अग्नि शान्त हो जाए) २. अक्षम्रक्षण (गाडी के धुरे को जितना चुपड़ने से काम चल जाए) ३. गोचरी वृत्ति (गाय के सम्मुख जैसा घास डाल दिया जाए और वह डालने वाले की सुन्दरता अथवा कुरूपता का ध्यान किये बिना उसे खाने में दत्तचित्त हो जाए) जैसे श्वभ्रकण्ण—जैसे गढे को भरने के लिए मिट्टी-कंकड़ आदि की आवश्यकता होती है उसी प्रकार उदर के गर्त को पूरण करने की भावनामात्र रखना, और भ्रामरी वृत्ति, जिसका वर्णन पिछले पद्य में किया जा चुका है, ये पांच विधि मुनि के आहार की मितता, आवश्यकता, निरपेक्षता, उदासीनता और असम्पीडन को बताती हैं ।

मुनियों को चाहिए कि वे न तो शरीर को इतना अधिक कृश करें कि चर्या करना कठिन हो जाए और न पुष्ट करने का विचार करें कि रसीले, मधुर, पौष्टिक

पदार्थों के सेवन से इन्द्रियां इधर-उधर धावन करने लगें। अतः इन्द्रियनिरोध में सहायक तथा मुनिचर्या के योग्य मध्यम मार्ग का अवलम्बन करते हुए मुनियों को संयत प्रवृत्ति रखनी चाहिए। महापुराण का वचन है कि—

न केवलमयं कायः कर्शनीयो मुमुक्षुभिः।
नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च व्यंजनैः॥
वशे यथा स्युरक्षाणि नोत धावन्त्यनूत्पथम्।
तथा प्रयतितव्यं स्याद् वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम्॥

व्रत, तपश्चरण आदि को उपशमभाव से धारण करना चाहिए न कि कषाय भाव से। आचार्य कुन्दकुन्द का निर्देश है कि—

उपसम तव भावजुदो णाणी सो भावसंजुदो होइ।
णाणी कसायवसगो असंजदो होइ सो ताव॥७१॥

उपशम भाव से आचरित व्रत और तप संयमभाव को प्राप्त कराते हैं किन्तु कषाय वशीभूत होकर इन्हें धारण करने से असंयमभाव की प्राप्ति होती है। अतः परिणाम में शुभ-प्राप्ति चाहनेवाले को उपशम भाव से ही व्रतादि का अनुष्ठान करना चाहिए। शास्त्रस्वाध्याय का परिणाम वास्तव में उपशम की प्राप्ति होना चाहिए। क्योंकि, युक्त-अयुक्त का, करणीय और अकरणीय का ज्ञान शास्त्र द्वारा ही होता है। शास्त्र दीपक के समान होते हैं जिनके आलोक में मार्ग तय करनेवाला ठोकर नहीं खाता। किन्तु यदि शास्त्र-दीपकपाणि भी कोई ठोकर खाकर गिरता है तो 'ततः शास्त्रविपश्चित्त्वं श्रम एव हि केवलम्'—तब शास्त्रपाठ कोरा श्रम ही माना जाएगा। जैसे गर्दभ पर चन्दन लाद दिया किन्तु उसे तो केवल भार का ज्ञान है। भार किस वस्तु का है? यह पता नहीं। वैसे ही ज्ञान का बोझा ढोनेवालों की दशा है। मूलाचार का वचन है कि—

जदि पडदि दीवहत्थो अवडे कुणदि तस्स दीवो।
जदि पढदि सिक्खिऊण अणयं करे दि किं तस्स सिक्खफलं॥

अर्थात् यदि दीपक हाथ में लेकर (मार्ग देखकर) चलने वाला भी कूए में गिर जाता है तो उसको दीपक लेने से क्या लाभ? इसी प्रकार शास्त्रअध्ययन करके भी जो चरित्र का पालन न करे, उसका भंग कर दे तो आगमशुद्धि उसे कब प्राप्त हुई? धर्म का मूल तो चारित्र में बसा है और चारित्र ही धर्म का

व्यवहार है, व्यावहारिक रूप है। 'वृत्ततस्तु हतो हतः' जो शील से पतित होगया, वह सर्वतः पतित होगया। शास्त्र उसका उद्धार नहीं करते।

शास्त्रस्वाध्याय से, आगमविशुद्धचर्या से, ध्यानसामायिक से मन विशुद्ध होता है। जिस प्रकार साबुन से वस्त्र निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार आगमलक्षणों के पालन से निर्दोषभावों की अभिवृद्धि होती है। योगीन्द्र देव कहते हैं—

सरसलिले थिरभूए दीसइ णीरू णिवडियंपि जइ रयणं।
मन सलिले थिर भूए दीसइ अप्पा तहां विमले॥

निर्मल जल वाले तालाब में, तल में पड़ा हुआ रत्न भी झलकता है उसी प्रकार मनरूप जल के स्थिर होने पर निर्मल-आत्ममणि प्रकाशमान हो उठता है। 'चित्तविशुद्धिः सर्वशुद्धिमूला' सभी शुद्धियों का मूल मनः शुद्धि है। अशुद्ध मन ही संसार का कारण है।

मण करहो धावंतो णाणवरत्ताइ जेहिं णहु बद्धो।
ते पुरिसा संसारे हिंडंति दुहाइं भुंजंता॥ योगसार—१

अर्थात् जिसने मनरूप कलभ दौड़ते हुए (हाथी) को, ज्ञान के वरत्र से (रस्सी से) नहीं बांधा, वे पुरुष संसार में दुःख भोगते हुए भटकते रहते हैं। एतावता मन को ही पहले सुधारना चाहिए। किसी ने कहा है—

अरे! सुधारक, जगत की चिन्ता मत कर यार।
तेरा मन ही जगत है पहले इसे सुधार॥

इस मनशुद्धि पर ही आत्मशुद्धि निर्भर है। आत्मशुद्धि से ही कल्याण और मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति होती है। वह प्राप्ति, जिसे पा लेने के पश्चात् अन्य कुछ प्राप्तव्य नहीं रहता और जिसके आनन्दपयोधि की तुलना में संसार के समस्त ऐश्वर्य सुख गोष्पद से अधिक नहीं लगते।

प्राचीन समय में दिगम्बर मुनियों का निवास एकान्त वन में, गिरिकन्दराओं में होता था किन्तु इस पंचम काल में, जिस में मुनि होना ही परम आश्चर्य है, शास्त्रकारों ने उन्हें जिनालयों में तथा श्रावक बस्तियों में रहने का अनुरोध किया है। श्री पद्मनन्द पंचविंशति में स्पष्ट उल्लेख है कि—

सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थितिः।
धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम्॥

अर्थात् इस कलिकाल में मुनियों की स्थिति (आवास) जिनालयों में है। उन्हीं के निमित्त से धर्म और दान की प्रवृत्ति श्रावकों में वर्तमान है और वे ही जिनालयों की रक्षा के, धर्म और दान के एवं मुनिचर्या की निर्बाधता के मूल कारण हैं।

'बोधपाहुड' में आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि—

> सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा।
> गिरिगुह गिरिसिहरे व भीमवणे अहव वसति वा॥ ४२

अर्थात् शून्य घर में, वृक्ष के मूल में, उद्यान में, श्मशान भूमि में, पर्वतों की गुफा में अथवा गिरिशिखर पर, भयानक वन में अथवा किसी बस्ती में मुनियों को ठहरना चाहिए।

> कलौ काले वने वासो वर्जनीयो मुनीश्वरैः।
> स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः॥ १६

इस कलिकाल में मुनियों को वन में नहीं ठहरना चाहिए और जिनालय अथवा गांव इत्यादि में विशेष रूप से स्थिति रखनी चाहिए।

क्योंकि, चौथे काल में राजा एवं प्रजा धार्मिक थे। धर्म को मूल रखकर उनके अर्थ—कामोपभोग पुरुषार्थ वर्तमान थे किन्तु इस पंचमकाल में धर्म मुख्य रूप से न राजा में रहा और न प्रजा में। पूर्वकाल में अर्थ और काम धर्माश्रित थे और अब धर्म पर अर्थ और काम आरूढ हो गये हैं। अर्थात् धर्म को बाधित करते हैं। मुनियों को इसलिए वन में निवास करना वर्जित लिखा है। क्योंकि, वन में रहने से उनके संयम की रक्षा नहीं हो सकती। जब पंचमकाल नहीं था तब मुनियों के शरीरों की स्थिति कालप्रभाव से भिन्न थी। 'वज्र-वृषभ-नाराच-संहनन' उस काल के मुनि हुआ करते थे। वे झर-झर धारासम्पात बरसते पानी में, सूर्यरश्मियों से उत्तप्त बालुका पर, हिमाच्छादित शीत प्रदेश में, प्रबल प्रभंजन में, सर्वत्र निराबाध, समान रूप से विचरण कर सकते थे, ठहर सकते थे। आहार के लिए मासपर्यन्त उपोषित रह सकते थे। किन्तु काल अपना प्रभाव रखता है। आज कालप्रभाव से प्राणियों का शरीर उतना सशक्त नहीं अतः वे उन विषम भूमियों में नहीं रह सकते। विशेषतः धर्मप्रभावना के लिए भी उनका जिनालयों में रहना आवश्यक है। ऐसा करने से जहां श्रावकों में धर्म-भावना, देवमन्दिर और गुरूपासना बनी रहती है वहां मुनि भी चर्या में सुविधा प्राप्त कर अपने

धार्मिक भी बने रह सकते हैं। उभयपक्ष के द्वारा किये गये इस समझौते से धर्म और धार्मिक दोनों लाभान्वित होते हैं। क्योंकि, 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' धर्म बिना धार्मिकों के टिक नहीं सकता। और दिगम्बर जैन परम्परा के चतुर्विध संघ में श्रावक और मुनि दोनों ही धर्म के रक्षक मणिस्तम्भ हैं। श्रावक बस्ती में विहार करते हुए मुनि महाराज उन्हें धर्मप्रवचन द्वारा आस्था और श्रद्धान की दुबट डोरी में बाँध रखकर उन्मार्ग से बचाते हैं तो श्रावक समाज भी उनकी यथावश्यक सेवा कर पुण्यबन्ध प्राप्त करता है जिसके प्रभाव से सुखों की सम्पन्नता अनायास सिद्ध हो जाती है।

आज विचारस्वातंत्र्य की प्रक्रिया जनमानस में अधिक क्रियाशील है। लोग धर्म, राजनीति और समाज की किसी भी गूढ़-गम्भीर परिस्थितियों पर तुरन्त निर्णयात्मक भाषा में बोलने लगते हैं। सत्ता के आसन पर विराजमान बड़े बड़े आई. सी. एस. जितनी शीघ्रता से जिस विषय पर साधिकार नहीं कह पाते, उस पर बिना झिझक के आम चौराहों पर सामान्य वीथनियों की निर्णयात्मक ध्वनि आज सुनायी देती है। प्रायः सभी अपने को परीक्षाप्रधानी मानते हैं। किन्तु विद्यार्थी भी अपनी उत्तरपुस्तक जंचवाने का अधिकार जिस-किसी को नहीं देता। परीक्षा करने की क्षमता के लिए परीक्ष्य विषय का धुरन्धर होना आवश्यक है। जैसे अवयस्क मताधिकार के लिए अधिकृत नहीं है, उसी प्रकार परीक्षण के लिए सभी पात्र नहीं हो सकते। सोमदेव सूरि ने कहा है—'भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्' आहार के लिए कुछ अन्नकवल देने में तपस्वियों की परीक्षा क्यों? जिन्होंने सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग कर त्यागी वेष धारण किया हुआ है। कठोर चर्या का जो पालन करते हैं और खुली पुस्तक के समान जिनकी रातदिन की चर्या लोकनेत्रों के समक्ष है, उन्हें आहारमात्र देकर परीक्षकों की श्रेणी में अपने को रखनेवाले यदि तदर्थ योग्यता भी सम्पादित कर सकें तो अधिक अच्छा हो। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि त्यागियों में शिथिलाचार देखकर भी श्रावक मौन रहे। वह स्थान और समय देखकर अपनी विनय भक्ति न छोड़ते हुए विनम्र स्वर में उस ओर इंगित करे, यह उसका धर्म है। मद्रास का 'टिकट' लेकर 'इलाहाबाद' की गाडी में बैठे हुए को यदि टी.टी. सही प्लेटफार्म और गाडी बताता है तो उससे यात्री को अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने में सुविधा ही मिलती है। सत्य भावना से मार्गदर्शन के लिए यही वाञ्छनीय है।

मनोविज्ञान मीमांसा

मनोविज्ञान मीमांसा

ज्ञान-विज्ञान के बहुमुखी क्षेत्र में, सांसारिक प्रवृत्ति और निवृत्ति में मनुष्य का परम मित्र उसका मन है। यह मन समस्त इन्द्रियप्रवर्तन का हेतु है। आंख देखती हैं इस लिए कि देखना मन को अच्छा लगता है। कान किसी गीत को सुनते हैं वह भी इस लिए कि गीत मन को प्रिय प्रतीत होता है। इसी प्रकार इन्द्रियों से होने वाला सभी व्यापार मन की इच्छा पर निर्भर है। अनेक विचित्रतापूर्ण कृत्यों के सम्पादन में मन बड़ा कुशल है। वह सदैव कार्यशील रहकर विश्व को नवीनतम उपलब्धि देता रहता है। शरीर जब दैनिक कार्यकलाप करने के उपरान्त थक जाता है और निद्रा की गोद में चला जाता है, यह मन तब भी स्वप्नादि व्यापार में लगा रहता है। इस लिए इसे 'चंचल' उपाधि से विभूषित किया गया है। यदि इस को निरुद्देश्य विचरने दिया जाए तो यह अनर्थों की परम्परा खड़ी कर सकता है किन्तु यदि इसे किसी उद्देश्यपूर्ण कार्य में नियोजित किया जाए तो संसार के महान् से महान् कार्यों को कर दिखाने की सामर्थ्य इसमें आ जाती है। किसी उद्योगपति के व्यावसायिक विस्तार को देखकर, उसकी मिलों, कारखानों में धड़धड़ाते हुए यन्त्रों की कम्पन उठाने वाली धड़कन को अनुभव कर उसके मनः संकल्पों की विशालता का अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार किसी विरक्त की आत्मानन्द से पूर्यमाण मनोदशा को देखकर किसी विश्वोत्तर सम्पदा की उपस्थिति का ज्ञान भी किया जा सकता है। विश्वभर के शिल्प, वाणिज्य, कला, कौशल, भौतिक और अध्यात्म क्रियाकलापों में मनोबल का अभुग्न मेरुदण्ड अथक श्रम करता दिखाई देता है। किसी ने मन की विशाल सामर्थ्य को पहचान कर ही कहा है 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'। अपराजित मन संसार को अपने इंगितों पर नचा सकता है। मन की इस शक्ति का नाम है 'अनिर्वेद'। मन का यह गुण ही मनुष्य को सर्वार्थसिद्धि के लिए प्रवृत्त करता है। निर्वेद खिन्नता का नामान्तर है। खिन्नता में आत्मशक्ति के ह्रास की सूचना है और अनिर्वेद में मनोबल के विजय का भेरीनाद है। दृढ़ मनः-संकल्पशील को 'मनस्वी' जैसे ऊर्जस्वल शब्द से अभिहित किया गया है। 'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्' वह मनस्वी पुरुष कार्य करने के लिए जब उद्यत होता है तो दुःखों और सुखों की गणना नहीं करता है। जैसे मार्ग चलते

पथिक के सामने दूर पर खड़े वृक्षसमूह मार्ग रोकते हुए-से, पथ बाधा बनते-से दिखाई देते हैं किन्तु जैसे जैसे वह धीरगति से पगडंडी पर चलता जाता है वे वृक्ष-समूह पथ के दोनों ओर (मार्ग छोड़कर मानो) खड़े हो जाते हैं अथवा जैसे कुहासे में चलते हुए को मार्ग सूझता जाता है, उसी प्रकार मन की व्यवसायिका शक्ति से, अनिर्वेद भाव से जो व्यक्ति जीवनपथ की यात्रा को अनिरुद्ध चालू रखता है उसके लिए संभावनाओं के सहस्र क्षेत्र उपस्थित रहते हैं। नीतिकार कहते हैं—

'गच्छन् पिपीलिको याति योजनानां शतान्यपि ।
अगच्छन् वैनतेयोऽपि पादमेकं न गच्छति ॥'

अर्थात् निरन्तर चलती हुई पिपीलिका (चिऊंटी) भी सौ योजन जा सकती है और बैठे रहकर कोरे मनसूबे करने वाला यदि अप्रतिहतगति गरुड़ भी हो तो मंजिल का एक चरण भी तय नहीं कर सकता। इस हेतु मन के सुदृढ संकल्प ही कार्यसिद्धि के लिए सहायक हैं। 'मन' मनुष्य का सत्व है, बल है, पराक्रम है। वह समुद्र की गहराइयों से अधिक गहरा है, आकाश से ऊंचा है । अमाप शक्तियों का खजाना है। जिसने मन को अनुरूप और अनुकूल शक्तियों के विकास में नियुक्त कर दिया उसे ही वास्तव में कर्मठ मनुष्य कहना उपयुक्त होगा।

बहुत लोग मन को नहीं जानते अत एव कहना चाहिए कि वे अपनी अन्तः-सुप्त शक्ति को नहीं पहचानते। ऐसे लोग सदैव कायरता के शिकार होते हैं क्योंकि मनोबल जाने बिना उनमें विश्वास, स्थिरता, अदम्य साहस, लगन और कार्य-सिद्धि के प्रति तत्परता नहीं आती। उनकी आकृति मात्र देखने से उनमें प्रच्छन्न दीनता के दर्शन होते हैं। आत्म-विश्वास की चमक वहां देखने को नहीं मिलती। मनकी यह रुग्ण तसवीर उसे किसी कार्य में उत्साहसहित प्रवृत्त नहीं होने देती । वे तूलभार (रूई के ढेर) को देखकर हताश होकर चिल्ला उठते हैं अरे ! इतनी रूई ! इसे कौन कातेगा ? कौन बुनेगा ? फलतः वे पागल हो जाते हैं। संसार-यात्रा में उत्तरदायित्वों का जो लघु या महान् भार उनके कन्धों पर रखा हुआ है, वे उसे गिराकर भाग खड़े होते हैं। उनमें हीन भावना (मनोदौर्बल्य) घर कर जाती है। मनको न पहचानने से जो शत-शत अहितकारी दुष्परिणाम होते हैं, उनकी यह एक लघु गाथा है। अत एव आत्म-विज्ञान के लिए, आत्म-कल्याण के लिए, लोकयात्रा में सफल होने के लिए मनको जानना आवश्यक है। मनको जानने वाला संसार में एक उत्तम मित्र को अपने पास रखता है। वह कभी अकेलापन

अनुभव नहीं करता । उसे विपत्तियोंमें एक अयाचित मित्र का सहयोग मिल जाता है । मनको अपने सहचर के रूप में पाकर मनुष्य साहस और जोखिम के कार्यों में निःशंक होकर कूद पड़ता है। उसे सफलताएं मिलने लगती हैं । एक सूक्ति है—'क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे' सफल होने में मनुष्य के मानस संकल्पों की दुराधर्षता ही कारण है । भला, उपकरणों की प्रचुरता से क्या होता है। यह मनःशक्ति है, जो व्यक्ति को असम्भवों के अक्षुण्ण मार्ग पर विजय वैजयन्ती फहराने का आमन्त्रण देती है ।

मन प्रेरणा का स्रोत है । मन लगाकर किये हुए कार्य में जो सुन्दरता अथ च पूर्णता आती है वह बेमन से किये हुए में नहीं आ पाती। अतः मनोयोग सुन्दरता और पूर्णता का उत्पादक है। उत्तमता से कार्य निभाने के लिए लोग तन-मन और जीवन की शपथ लेते हैं। यह मन मनुष्य के मस्तिष्क का चिन्तन-संस्थान है। कल्पवृक्ष हमारे मानससंकल्पों का ही प्रतीकात्मक नाम है। मनोविज्ञान के वेत्ता किसी की आकृति को देखकर उसके अन्तर्मन की थाह प्राप्त कर लेते हैं । कहा भी है--'वक्त्रं वक्ति हि मानसम्' मुख के भावविकार मन को कह देते हैं 'मुख माइण्ड की पहचान है' इस आशय की एक अंग्रेजी भाषा की सूक्ति भी है । न केवल आकृति से मनोदशा का ज्ञान होता है अपितु व्यक्ति की चाल से, स्थिति से, वार्तालाप की प्रणाली से, सम्भाषण में प्रयुक्त शब्दावली के निर्वाचन से यहां तक कि मौन से भी मानसिक स्थितियों का अध्ययन किया जाता है । प्राचीन समय के लक्षण-संहिता ग्रन्थों में व्यक्तियों के व्यवसाय की सफलता, उन्नति और सुचारुता का पता शास्त्रीय मनीषियों ने उनकी चेष्टाओं से लगाया है। यदि कोई सभास्थान में बैठकर सभा में बिछे हुए आस्तरण के सूत्र निकाले, चटाई की शलाकाओं को तोड़े बोलने के लिए कहने पर कूल्हा (नितम्ब) निकालकर टेढा-मेढा कुढंगा खड़ा हो तो वह व्याख्यान देने में असमर्थ है और मानसिक सन्तुलनरहित है, ऐसा जानना चाहिए । स्त्रियां लज्जित होने की दशा में अपने दुकूल के अंचल को अंगुलियों में आवर्तित करने लगती हैं अथवा पैरों के अंगुष्ठ से भूमिविलेखन (जमीन कुरेदना) करने लगती हैं। भयाकुल व्यक्ति की आंखें सामान्यदशा से अधिक फटी हुई होती हैं तथा मानसिक प्रसन्नता से मनुष्य के कपोलों पर रक्त-कमल तैरने लगते हैं लक्षणविज्ञ विद्वान् बाहर के इन आकार विकारों से अन्दर के मन को जान लेते हैं। व्यक्ति की वेषभूषा, लिपि, नेत्रों की रचना, ओष्ठ सम्पुटों के दबाव, नासिका का नुकीलापन, उसके निवासस्थान और शयनकक्ष में स्थित

चित्र, पुस्तकें, बिस्तर इत्यादि से उसके अन्तःकरण के प्रच्छन्न संसार को भांप लेते हैं। नीतिकारों ने कहा है—

आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥'

नीतिवाक्यों की कसौटियों पर अपने मन को परखने वाला लोकशास्त्र का महाविद्वान् हो जाता है। 'देशाटनं पण्डितमित्रता च' यह जो प्राचीन सूक्त है वह मनुष्य के मनोविकास में सहायक है। प्राय: व्यापारी लोग ग्राहक को देखकर ही उसकी वास्तविकता का पता लगा लेते हैं। रात दिन सहस्रों लोगों से सम्पर्क में आने के कारण उनकी आंखों में एक ऐसा परीक्षक भाव स्थिर हो जाता है कि उन से चूक होना कठिन है।

मनोदशा के विकास में, निर्माण में समीप स्थित गली-मुहल्लेवालों का, उनकी संस्कृति का, रहन-सहन और वेषभूषा का, अध्ययन का, अपने घरवालों तथा साहित्य का बहुत बड़ा हाथ है। जो लोग संस्कारमूढ होते हैं उनका मन भी असंस्कृत होता है। जिनके पासपडौस के लोग झगड़ालू होते हैं, वहां रहने वाला भी अवचेतनदशा में न चाहते हुए भी उन प्रवृत्तियों को अपनाये हुए होता है। प्राय अंग्रेजी कालेजों में पढने वाले छात्र स्वजाति से निरामिषभोजी होते हुए भी आमिष अथवा अण्डा खाने लगते हैं तो उसमें उनका वातावरण ही कारण है। आज हिन्दुओं के शिर से चोटी गायब हो गई तो इसीलिए कि शत प्रतिशत बेचोटी] के लोगों में उन्हें शर्म आती है। वातावरण का मनोदशा पर कितना प्रभाव होता है, ये इसके सूचक हैं। कुछ लोग अवस्था के साथ चलते हैं अर्थात् जैसे जैसे उनका शरीर बढ़ता है, आयु परिपक्व होती है, वैसे वैसे उनके विचार भी परिष्कृत होते हैं और प्रौढ होते चले जाते हैं। किन्तु कुछ लोग शारीर आयु से बड़े होकर भी अनुभवों, और मानसिक विकास में बहुत बौने होते हैं। उनका शरीर पचास का होता है तो मानसिक विकास पच्चीस का। वे समाज में बैठते हैं तो बच्चों के समान अनुत्तरदायिता से बोलते हैं, बिना कारण हंसते हैं, बिना प्रयोजन घूमते हैं। लोग उनके समक्ष नहीं तो पीछे से उन पर तालियां पीटते हैं और छोटे छोटे लोग उन्हें अपने से भी लघु समझते हैं। इस परिस्थिति के मूल में उनका समुचित मनोविकास न होना ही कारण है। इसके विरुद्ध कितने लोग झील की तरह शान्त होते हैं और उनके अन्तःकरण में उठने वाले विक्षोभ, हर्ष अथवा उद्वेग की लहरें उनके मुख पर नहीं आती। सभाओं में वृद्ध जनों से

अधिक उनका सम्मान होता है। वे बचपन में तरुणों जैसे, युवावस्था में वृद्धजनों के समान और लोकपूजनीय होते हैं। यह उनके उन्नत मानसिक विकास का ही सम्मान है। किसी राजसभा में एक जटिल प्रश्न पर वादविवाद हो रहा था। कई दिनों के पश्चात् भी उस पर निर्णय नहीं लिया जा सका। बड़े बड़े धुरन्धार विद्वत्शिरोमणि, तर्कभूषण, वादिराज नतमस्तक बैठे सोच रहे थे। तभी एक बालक ने वहां प्रवेश किया। यह जानकर कि वह शास्त्रार्थ में भाग लेने आया है राजा और पण्डित मण्डली हंसने लगी। बालक ने निर्भीक स्वर में कहा—

'राजन्! यद्यपि बालोऽहं न मे बाला सरस्वती।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम्॥'

हे राजन्! आप क्यों हंसते हैं? मेरी बालावस्था पर? परन्तु क्या हुआ यदि मैं बालक हूं। मेरी सरस्वती (विद्या) तो बालक नहीं है। जब मैं सोलह वर्ष का हो जाऊंगा तब तो तीनों लोकों के वर्णन का सामर्थ्य मुझ में होगा।

यह धीरता उसके प्रबल मानसिक बल की सूचना देती है। अतः जो व्यक्ति जितनी तत्परता से इस मन को जानेगा, बलवान् बनाएगा उस के लिए त्रिभुवन के मार्ग प्रशस्त होंगे। 'वयं बलवन्तः स्याम' 'वयं भगवन्तः स्याम' हम बलवान् हों और हम भगवान् बनें, राष्ट्रीय चारित्र की भौतिक और आध्यात्मिक इन दोनों धाराओं के बीच मनोनृपति के शिविर लगे हुए हैं। सूक्ति है कि—

'सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।
प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः॥'

'केसरी सिंह का बालक भी मदोन्मत्त गजेन्द्रों के मस्तक पर प्रहार करता है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि सत्वशीलों की यह तो प्रकृति है। आयुः प्रमाण की अधिकता तेजस्वी होने में कारण नहीं होती।' यह सत्व और प्रकृति मनः संकल्प जल से उत्पन्न दो कमल कुसुम हैं।

मानस शास्त्र के न जानने से मनुष्य समाज व्यवहार को नहीं समझ पाता और न ही उसमें अपने को प्रविष्ट कर सकता है। राजा भोज को लेकर एक कथा है कि भोज की दो रानियां एकान्त वार्तालाप कर रही थीं। उसी समय बिना पूर्व सूचना के 'मैं राजा हूं, पति हूं' ऐसा दर्प रखकर भोज उनके बीच में उपस्थित हो गये। बड़ी रानी ने 'आओ मूर्ख' कहकर पति का स्वागत किया।

राजा उल्टे पैरों लौट आया और सभा में आने वाले विद्वानों को 'आओ मूर्ख' कहकर बुलाने लगा। सभी विस्मयमूढ थे कि आज विद्वत्शिरोमणि राजा भोज को क्या हो गया है। तभी कालिदास आये। जब राजा ने उन्हें भी 'आओ मूर्ख' कहा तो कवीश्वर ने राजा के किसी प्रच्छन्न घटनाचक्र को जानकर कहा—

'खादन्न गच्छामि हसन्न भाषे
गतं न शोचामि कृतं न मन्ये।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्
किं कारणं भोज! भवामि मूर्खः॥'

'हे राजन्! मैं खाता हुआ मार्ग पर नहीं चलता, हँसता हुआ वार्तालाप नहीं करता, बीते हुए को लेकर सोच नहीं करता, किये हुए उपकार को बहुत नहीं मानता और जहाँ दो व्यक्ति एकान्त वार्तालाप करते हों, वहाँ तीसरा नहीं होता, हे भोज! इसमें से कौनसा कारण है जो आप मुझे मूर्ख कहते हैं।' सुनते ही राजा को 'आओ मूर्ख' सम्बोधन का रहस्य समझ में आ गया। मनोविज्ञान को न जानने से ही राजा को 'मूर्ख' शब्द सुनना पड़ा। इस प्रकार मनोविज्ञान समाज शास्त्र का आधार है। एक अच्छा शिक्षक जबतक अपने छात्रों के स्वभाव और रुचि को नहीं जान लेता, उनमें सफल नहीं हो सकता। उसकी सफलता छात्रों के मनोभाव पढने पर है। वह स्वयं जब तक उन्हें पढ़ नहीं लेता, उन्हें पढाने का अधिकारी नहीं हो सकता। आचार्य, मुनि, गुरु और समाज के उपदेष्टाओं पर मानस शास्त्र की विज्ञता का सद्यः प्रभावी असर होता है। जो इस विद्या से अनभिज्ञ हैं वे ही अनुशासन के नाम पर रात-दिन झिड़कते हैं, मुख टेढा करते हैं और निन्दा, फटकार, धिक्कार से अपने शिष्यों, धार्मिक अनुयायियों और अन्तेवासियों को नियन्त्रण में रखने का दम्भ करते हैं। परन्तु निश्चय ही वे मनोविज्ञान की उन विशाल सम्भावित विभूतियों से वंचित हैं जिसके प्रथम सूत्र में ही लिखा है—

'लालयेत् पंच वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥'

अर्थात् पुत्र को जब तक वह पांच वर्ष का हो, लालन करना उचित है, दश वर्ष पर्यन्त ताडना देना ठीक है किन्तु जब वह सोलह वर्षीय हो जाए तो उसके साथ मित्र के समान आचरण करना ही योग्य है। क्योंकि आयुपरिपाक

के साथ मनपरिपाक भी होता है और मन जब प्रबुद्ध हो जाता है तो मित्र भाव को तो सहन कर लेता है किन्तु अधिकारी और अधीनता को स्वीकार नहीं करता। 'अमरकोष' में चित्त की समुन्नत-अवस्था को 'मान' कहा है। 'मानश्चित्त-समुन्नतिः' इस प्रकार युवा अवस्था के प्रवेश के साथ-साथ शरीर में 'मान' अस्मिता के भावों का उदय होने लगता है और व्यक्ति का व्यक्तित्व स्वतन्त्र विकास के लिए लालायित हो उठता है। उस समय उसे मित्रता से ही आगे बढ़ाना चाहिए न कि अपनी दुर्बलताओं को बलात् उस पर लादने का यत्न करना। जैसे वायु-पूरित गेंद पृथ्वी पर ताड़ित करने से ऊपर ही उछलती है उसी प्रकार सिंहवृत्ति मनस्वी का मन अधिक्षेप से शिक्षित नहीं किया जा सकता। उसे तथा अनुयायी लोक वर्ग को तो मनोविज्ञान की भूमि पर अंकुरित, फलित तथा मधुरवाणी के रसाल-फलों से ही तृप्त आनन्दित किया जा सकता है। और वैसी स्थिति के लिए 'भ्रमरोगहर जिनके वचन मुखचन्द्र से अमृत झरे' पं० दौलतरामजी के ये साधु वाक्य मन की शिला पर उत्कीर्ण कर रखने योग्य हैं। सफलता की सम्भावना के ये सूत्र मानस शास्त्र की देन हैं। जो जितना मानस शास्त्री होगा उतना ही लोक जीवन को प्रभावित कर सकेगा। आप किसी को अनुकूल करना चाहते हैं तो उसके मन को अपने मुख की मिठास से भर दीजिए। ऐसा बोलिए कि उसके रोम-रोम प्रसन्न-गद्गद् हो जाएं फिर यदि आप उसकी ग्रीवा पर खड्ग का प्रहार भी करेंगे तो वह शिर नहीं उठाएगा। कहते हैं—

> 'ऐसी वाणी बोलिये मन का आपा खोय।
> औरन को शीतल करे आपहु शीतल होय॥

यदि अपने को और दूसरों को अपना बनाना चाहते हैं तो मन के अहंकार को त्याग कर मधुर वचन बोलिए। इससे आप भी शीतलता (शान्ति) अनुभव करेंगे और सुनने वाला भी अनुकूल होगा।

राष्ट्र के, धर्म के ऐसे नेता जो कोटि-कोटि जनसमुदाय को अपने इशारों पर लिये चलते हैं यदि मानस शास्त्री न हों तो वैसा करना उनके लिए दिवास्वप्न हो जाए। अहिंसा और क्षमा श्रमण संस्कृति के दो जाने-माने बहुमूल्य मणि हैं। महात्मा गांधी ने राजनीति में इनका प्रयोग किया और अवश्यम्भाविनी सफलता ने उनके चरण स्पर्श किये। यह साधारण नियम है कि 'तुम जो चाहते हो वही दूसरों को दो' ऐसा करने से आज भी किसी को निराशा नहीं होगी। आप किसी के

मिलते हैं। कहने लगते हैं 'बड़ा दुःखी हूं, चिन्ता में हूं, सुनने वाले मित्र का मन भरभ्रा आता है वह भी दुःखी जैसा मुंह बनाकर अपनी संवेदना प्रकट करता है। आप ऐसा करते हुए एक सामाजिक (नैतिक) अपराध कर रहे हैं। जिस किसी को कहने से समस्याओं का समाधान नहीं होता बल्कि परेशानियां बढ़ जाती हैं। सभी बादल पानी नहीं देते। चातक को चाहिए कि विवेक बुद्धि से काम ले और अपनी कार्पण्य वृत्ति से सावन के संगीत को बे सुरा न करे। इसके विपरीत दो जने मिलते हैं 'जयजिनेन्द्र' होती है और कुशल-क्षेम के सम्भाषण से कहने और सुनने वाले के अन्तस्तल में शीतलता की, सुभगता की स्रोतस्विनी उमँगने लगती है। वह भविष्य में आप से मिलने के लिए उत्कंठित रहता है। क्योंकि आपने मानस शास्त्र के नियमाधीन उसका मन अपने वश में कर लिया है। सिंह की गर्जना सुनकर भय उत्पन्न होता है और मयूर की 'केका' सुनकर उसी के समान मन नाचने लगता है। यह सरल मनोविज्ञान है। तारों भरे आकाश को देख कर चित्त प्रफुल्ल होता है और बिना पानी के अन्धकूप को देख कर खिन्नता बढ़ती है। मानस शास्त्र के ये सूत्र प्रकृति के पट पर लिखे हुए हैं। पुस्तकों की रचना प्रकृति, व्यक्ति और जीवन दर्शन की मनोविज्ञान सम्मत मीमांसा पर ही हुई है। अतः मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए निर्द्वन्द्व प्रकृति की पाठशाला का विद्यार्थी होना, व्यक्ति और समाज की स्थूल-सूक्ष्म प्रवृत्तियों को परखना, व्यावहारिक जीवन में घटित होने वाले अनुभवों को हृदयवेदी पर लिख रखना परम सहायक है।

'चित्तमेव हि संसारो' यह संसार चित्त ही है। अर्थात् चित्त की वैभाविक परिणति का नाम ही ससार है। राग की जन्मभूमि चित्त ही है। 'रागादुत्पद्यते जन्तुर्विरागाच्च विमुच्यते' यह जीव संसार में रागसम्बन्धों को उत्पन्न करने से उत्पन्न होता है और विराग से मुक्त होता है। अथवा यों कहें कि जिस प्रकार मकड़ी अपने ही लालास्राव से जाल का निर्माण करती है और आप ही उसे समेट भी लेती है। इसी प्रकार जब मन रागानुविद्ध होता है तो संसार की रचना करता है और जिस समय स्व-पर के भेदज्ञान का इसमें उदय होता है तब यही मोक्ष के द्वार खटखटाता है। 'परमात्मप्रकाश' में मन की इन दोनों अवस्थाओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

'चित्ते बद्धे बद्धो मुक्के मुक्कोत्ति णत्थि संदेहो।
अप्पा विमलसहावो मइलिज्जइ मयलिये चित्ते॥'

अर्थात् चित्त का बन्धन ही बन्धन है और चित्त का वैभाविक परिणामों से मुक्त होना ही मोक्ष है। इसमें सन्देह नहीं। आत्मा तो निर्मल स्वभाव है। केवल संसारवासनायुक्त चित्त के सम्पर्क से उसमें मलिनता आ जाती है। अतः मुमुक्षुओं को चित्त का शोधन करना आवश्यक है। प्रबोधसारका कथन है कि—

'भावैः शुद्धैः मनः साधु धर्मानन्त्याय सम्मतम् ।
परां शुद्धिमवाप्नोति लोहं विद्धं रसैरिव ॥'

परिणामों की विशुद्धतासे मन शुद्ध हो जाता है। ऐसा मन धर्म की अनन्तगुण वृद्धि में सहायक होता है। जिस प्रकार रसायनशाला के ज्ञाता रसों की भावना देकर लोह को शुद्ध कर लेते हैं और वह भी रसायन हो जाता है उसी प्रकार मनकी स्थिति को निर्मल करना अनन्तसुख की प्राप्ति में सहायक है।

मोक्ष जानेवाले परमात्माओं का सिद्ध अनुभव मन की अपरिमित शक्तियों का वर्णन करता है। यदि मनको इन्द्रियों की क्षुद्र वासनाओं से मिश्रित न किया जाए तो इसकी शक्ति विश्व के रहस्यों का कुहकजाल भेदकर अपने स्वरूप की पहचान कर लेती है। कहते हैं 'तस्मिन् सिद्धे कृते साक्षात् स्वार्थसिद्धिर्ध्रुवं भवेत्'। आवश्यकता उसे साधने की है। अभ्यास और वैराग्य से मनको साधा जाता है। अशरण, अशुचि, अनित्यादि बारह भावनाओं से इस में नित्य विराग उत्पन्न किया जा सकता है। तब—

'निर्व्यापारे मनोहंसे पुंहंसे सर्वदा स्थिरे ।
बोधहंसः प्रवर्तेत विश्वत्रयसरोवरे ॥'

मन की उस व्यापाररहित (निर्विकल्प) अवस्था में पुरुषरूपी हंस अर्थात् आत्महंस सर्वदा स्थिरता को प्राप्त होता है और तीनों भुवनों के सरोवर में अपने ध्यानध्याताध्येयके एकत्राधिष्ठान की स्थिति प्राप्त कर मुक्त हो सकता है।

समाज की मनोदशाका परिचय बाजारोंको देखकर मिलता है। व्यापारी उन्हीं पदार्थों को (वस्तुओंको) रखेगा जो अधिक बिकेंगी। एतावता आज विलासिताके साधन (चित्र,सिनेमा, शृंगारप्रसाधन, जिह्वा आदि इन्द्रियों के तृप्तिकर पदार्थ) अधिक बिक रहे हैं तो मानना पड़ेगा कि समाज का मन दुर्बल हो गया है और उसे रागान्धता ने घोर बन्धन में डाल दिया है। किन्तु जिस प्रकार मिट्टी खाने वाले बालक को मिट्टी खाने से उत्पन्न रोगों की जानकारी नहीं होती

और उससे मिट्टी छीनने पर वह रोने लगता है उसी प्रकार इन्द्रियव्यापार प्रसक्त समाज की चेतना कुण्ठित हो जाती है और मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार देखादेखी अनुकरण करने की आदत से वह आरम्भ में जिन वस्तुओं के सेवन से दूर भागता था, उन्हें ही कालान्तर में आग्रह से ग्रहण करने लगता है। जैसे तम्बाकू, मदिरा, मांस सेवन और केवल बाहरी टीमटाम में लगे रहना सात्विक जीवन पालन करते हुए असत् प्रतीत होता है परन्तु ग्रहण करने पर पूर्वकालकी सात्विकता ही दोषमय लगाने लगती है। यह मनोविज्ञान का वही नुसखा है जो अनुकरणवादको अपनाता है और जिसमें लोग देखादेखी लाभ और हानि का विचार न करते हुए फंस जाते हैं। मनोविज्ञान के मनीषियों को शल्य लेकर इस मानसिक स्थिति का उससे पहले ही 'आॅपरेशन' कर देना चाहिए जिससे पूर्व की यह सीमा से बाहर न पहुँचाए। क्योंकि कृत्रिम सुखों के पीछे आज की यह अन्ध दौड़ सभ्यता, संस्कृति और मानवजीवन के लिए भयंकर दुष्परिणाम उपस्थित करने वाली है।

मनोविज्ञान का यह सम्बन्ध व्यक्ति से है, समाज से है और राष्ट्र से है। मनोविज्ञान मस्तिष्क शक्तियों का विकास करता है। आत्मबल को बढाता है। मनोविज्ञान लोकमानसबोध की पुस्तक है। मनोविज्ञान से कहे हुए शब्दों के मर्मभेद को पहचानना सरल हो जाता है। जहां चिकित्साविज्ञान समाज की चिकित्सा करता है वहां मनोविज्ञान व्यक्ति के स्वयं के आभ्यन्तर और बाह्य रोगों का शमन कर उसे स्वस्थता, तथा स्फूर्ति प्रदान करता है। मनःशक्ति के आलोक में आत्मा को पहचानना मानसशास्त्र की सम्पूर्ण उपलब्धियों से श्रेष्ठ है। आओ, मन की गहराइयों का अध्ययन करें और उसमें निहित विशाल सम्भावनाओं से अपने को सम्पन्न बनावें।

साहित्य स्वाध्याय और जीवन

साहित्य स्वाध्याय और जीवन

केवल श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया से स्पन्दमान व्यक्ति को जीवित नहीं कहते। जीवन जीने के लिए जीवनोपयोगी कला की उपासना करना नितान्त आवश्यक है। उस कला को जाने बिना, उसका अभ्यास किये बिना जीवन सारभूत तत्वों से वंचित रह जाता है। व्यक्ति की मानससमुन्नति उसके विचारों पर निर्भर है और विचारों के निर्माण में जातीय और विश्वतोमुख साहित्य का प्रमुख स्थान है। साहित्य से व्यक्ति की चेतना में एक विशिष्ट अन्तःकरण का निर्माण होता है जिसे हम रुचिपरिष्कार के दर्पण में देख सकते हैं। जीवन के लिए साहित्य का महत्व असन्दिग्ध है। जब कोई मानव किसी अन्य मानव के साथ सम्पर्क में आता है तब उनके सम्पर्क की धारावाहिता परस्पर समुन्नत विचारों के आदान प्रदान से ही प्रवाहित होती है। विचार कोरे मस्तिष्क की देन नहीं होकर परिस्थितियों की अथ च साहित्य की निधि होती है। संस्कारों की शालीन छाया में खड़े होकर हम जो बनना चाहते हैं, साहित्य हमारे लिए उसी प्रकार के उपादानों का सम्भरण करता रहता है। इस विचार से साहित्य हमारा कल्पतरु है। इसकी छाया में उपस्थित (अवस्थित) होकर हम जो होना चाहते हैं, हो सकते हैं। अतएव साहित्य व्यक्तित्व के निर्माण में कुशल शिल्पी का कार्य करता है। 'साहित्य' शब्द व्यापक है। 'सह' और 'हित' इन दो शब्दों के समाहार से 'साहित्य' शब्द निष्पन्न हुआ है। जो हितावह है, उसे साहित्य कहते हैं। इस प्रकार वह सम्पूर्ण वाङ्मय, जो व्यक्ति, समाज, जाति और राष्ट्र को समुन्नति प्रदान करता है अथ च उसके हितसम्पादन में सहकारी होता है, 'साहित्य' कहा जाता है। काव्य, व्याकरण, छन्दः, ज्योतिष, न्यायदर्शन, सभी विषय साहित्य के नाम से पुकारे जा सकते हैं। इस प्रकार साहित्य मानव की अमूल्य निधि है। हमें अपनी भूत भविष्यत् वर्तमान की कृत, करिष्यमाण और प्रक्रान्त क्रियाओं को साहित्य के रत्न मुकुर में देखना पड़ेगा। उसमें से उदात्त भावनाओं के आख्यानों को प्रेरणा बनाकर जीवन में उतारना होगा। उसका अमर सन्देश प्राप्त कर विश्व के लिए उसकी उपयोगिता का मानदण्ड स्थिर करना होगा। प्रेम, रहस्य, रोमांच, उदात्तत्व, विविधता, बलिदान, शौर्य, धार्मिकत्व, और आन्तरिक समस्त व्यवहारों के तराशे हुए चित्र, चरित्र, बिम्ब हमें साहित्य में ही उपलब्ध होंगे।

साहित्यका महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि वह केवल कल्पनाविलास न होकर समय-समय पर होने वाले हमारे इतिहास, संस्कृति और समाज के समुन्नत विचारशील प्रतिनिधियों द्वारा उल्लेखित ऐसा अनुभूत सत्य होता है जिस पर हम विश्वास कर सकते हैं। अनन्त सृष्टि की अनन्तकालावधि में अनन्त ही व्यक्तियों को अनन्त प्रकार के अनुभव, दर्शन, सम्प्राप्तियां हुई हैं, होती रहती हैं जिन्हें एककालावच्छेदेन एकाकी व्यक्ति नहीं देख पाता। साहित्य के दर्पण में मुसकिराते हुए उन बिम्बों की लय पर हम अपना जीवन नाट्य अभिनीत कर सकते हैं। साहित्य मानस सरोवर में उठने वाले उन विशाल सत्यों का एक निर्दोष संकलन है जो जीवन में पदे पदे हमें प्रबोध देकर उन्मार्ग से बचाते रहते हैं। साहित्य में नीति, शृंगार और वैराग्य, सभी विषयों का समावेश है। साहित्य पढ़कर हम अपने आपको जानने लगते हैं। संस्कृति के उज्ज्वल रत्नों का बिम्ब साहित्य के अजर अमर पत्रों पर अंकित है। उसके निरन्तर अनुशीलन से बुद्धि की धार तीक्ष्ण होती है, चिन्तन को दिशा मिल जाती है। विचारों का संबल हाथ लगता है। आचार के सनातन मार्ग पहचान में आते हैं। कार्यशीलता की शक्ति संचित होती है। मस्तिष्क को खाद्यान्न मिल जाता है। जैसे भटके हुए को मंजिल मिले, जैसे डूबते को नौका, उसी प्रकार अविचार के शून्य में खोये हुए को उत्तम वैचारिक मार्ग साहित्य निधि से ही प्राप्त होता है। किन्तु यह परम्परा केवल मानसमोदकभोगी के लिए नहीं है अपितु उसके निमित्त कठोर साधना, प्रबल पुरुषार्थ करना नितान्त अपेक्षित है। क्योंकि—

'लघीयः प्राज्यं वा फलमभिमतं प्राप्तुमनसा
निरीहेण स्थातुं क्षणमपि न युक्तं मतिमता।
शरावः कुम्भो वा नहि भवति सत्यामपि मृदि
कुलालो दण्डेन भ्रमयति न चेच्चक्रमनिशम् ॥'

अर्थात् अल्प अथवा अधिक क्रियाफल प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले को क्षण काल के लिए भी निरीह (इच्छाशक्ति और संकल्प से रहित) रहना युक्ति संगत नहीं। क्योंकि जब तक कुम्भकार अपने दण्ड को नहीं घुमाएगा तब तक मिट्टी होने पर भी शराव या घट नहीं बनाया जा सकता। यह निमित्तोपादान प्रत्येक वस्तुव्यवहार में कार्यकारण सम्बन्ध से समुपस्थित है। साहित्य की यथावत् जानकारी के लिए भी स्वाध्यायरूपी प्रबल प्रयत्न करना आवश्यक है। स्वाध्याय से आत्मा की चेतनशक्तियों का विकास होता है। जिस

प्रकार दीपक प्रज्वलित करने से पदार्थ दिखायी देने लगते हैं उसी प्रकार स्वाध्याय दीपक के आलोक में साहित्य पदार्थों की सत्ता उद्भासित हो उठती है। स्वाध्यायव्रत से शास्त्रीय शब्दों की यथार्थ अर्थप्रतीति होती है। स्वाध्याय से मनुष्य अपहृतपाप्मा (पापरहित) होता है। जिस प्रकार ग्रहण से मुक्त हुए सूर्य की किरणें सभी दिशाओं में निर्बाध संचार करती हैं उसी प्रकार स्वाध्यायी की बुद्धि सहज ही शब्द की अभिप्रेत अर्थशक्तियों का ग्रहण कर लेती है। बिना स्वाध्याय के साहित्याराधना का दम्भ करना बन्ध्या के पुत्र को लालित करना है। अतः जो स्वाध्यायनिष्ठ है वही साहित्यवेत्ता है इसे अविनाभाव सम्बन्ध से स्वीकार करना चाहिए। पठन-पाठन में अनियुक्त प्रवृत्ति होना स्वाध्यायी का विशेष गुण है। स्वाध्याय से बौद्धिक बल बढ़ता है। बुद्धिबल आत्मबल के लिए सहायक होता है। आत्मा बलवान् होने से साध्यों की प्राप्ति होती है। न केवल लौकिक सम्पदाओं के सूत्र साहित्य और स्वाध्याय में लिखे हैं अपितु धर्माचरण की संहिताएं भी स्वाध्याय में अन्तर्निविष्ट हैं। स्वाध्याय से संस्कारविशुद्धि प्राप्त होती है और संस्कारविशुद्धि से सत्साहित्य की ओर रुचि जाग्रत होती है। सत्साहित्य ही स्व-पर भेदज्ञान का बताने वाला है। इस प्रकार परम्परित सम्बन्ध से साहित्य मोक्ष पथगामी होने में सहायक कारण है। सनातनकाल से लोककल्याण के लिए, ज्ञानसंवर्धन के लिए और आत्मानुभूति को बहुजनहिताय बहुजनसुखाय प्रसारित करने के लिए साहित्य का निर्माण किया जाता रहा है। वीतराग साधुओं ने भी साहित्य के माध्यम से धर्मप्रवचन और प्रभावना क्षेत्र उर्वर किया है। साहित्य में एक शब्द का भी सत् प्रयोग युग युगों तक अपने स्वाध्यायचिन्तकों को चिन्तामणि के समान फलदायी होता है। राष्ट्र का शक्तिस्रोत साहित्य ही है। जिस राष्ट्र के पास जितना विशाल साहित्य भण्डार होगा, विश्व में उसकी सम्पन्नता स्वयम् प्रमाण है। साहित्य-स्वाध्याय से संस्कारों में परिमार्जन होता है। संस्कारों का परिमार्जन राष्ट्र के, समाज के जीवन को उज्ज्वलता से आप्यायित करता है। साहित्य से राष्ट्र के सम्मान की अभिवृद्धि होती है। किसी समाज को परखना हो तो उसके साहित्य को परखिए। साहित्य से आपको उसकी परम्परा, नैतिक आदर्श, सामाजिक चारित्र और आत्मसाधन की अनुत्तम सम्पदाओं का अनवद्य ज्ञान हो जाएगा। समाज शास्त्र के अध्याय अधिकतर साहित्य की परम्परा पर लिखे गये हैं। इसलिए जीवन साहित्य का चिर ऋणी है। साहित्य की पाठशाला में जाकर जीवन संस्कारिता को अपनाता है।

स्वाध्याय जीवन को स्वस्थ दृष्टिकोण प्रदान करता है। भ्रम अन्धकार का विनाश कर निश्चय की आलोकरश्मियां वितीर्ण करता है। दिग्भ्रम को मिटा कर कर्त्तव्यों के पथ प्रशस्त करता है। जिस प्रकार अग्नि के संयोग से घृत भी प्रज्वलित हो उठता है उसी प्रकार साहित्यस्वाध्याय से व्यक्ति में ज्ञानस्फुलिंग प्रस्फुटित होने लगते हैं। सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए सम्यक् साहित्य का पठन, मनन, चिन्तन नितरां आवश्यक है। साहित्य विधेय कर्मों का निर्देश करता है। अयुक्तकर्मों का निषेध भी साहित्य ही करता है। 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्'—राम के समान आचरण करो, रावण के समान नहीं—इत्यादि करणीय और अकरणीय कर्तव्यों को साहित्य के द्वारा सरलता से जाना जा सकता है। अतः सम्यक् साहित्य जीवन के लिए अमृत पाथेय है। संजीवन औषधि है। अधिकारी विद्वान् साहित्य अनुशीलन कर अपने को धन्य मानते हैं। परोपकार परायण मुनि और सन्त स्वाध्याय से अपने मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करते हैं। जीवन में सोद्देश्य दृष्टिकोण पाने की इच्छा रखने वाले पुस्तकालयों के विशाल सन्दर्भों में खोये रहते हैं। जिस प्रकार एक गोताखोर रत्नमणि प्राप्ति की इच्छा में अतलस्पर्श सिन्धुओं का अवगाहन करता है वैसे ही वे रात दिन उत्तम तत्त्व की जिज्ञासा में, जीवन मार्ग प्राप्ति की अभिलाषा में शास्त्रों के अपारवारीण महासागरों में डूबे रहते हैं। जीवन को कृतार्थ करने वाला चिन्तामणि उन्हें ही प्राप्त होता है।



जैनधर्म और नारी का महत्त्व

जैनधर्म और नारी का महत्त्व

नारी नर की जन्मदात्री है। वह इस जगत् की अतुल्य स्नेहसम्पदा है। उसकी पवित्र कुक्षि यदि तीर्थंकर मणियों का रत्नाकर है तो उसकी गोद संस्कारों की पाठशाला है। उसके स्तन्य (दूध) की उज्ज्वलता मानव को निर्लाञ्छन चारित्र प्रदान करती है। गवाट् में बंधी कामधेनु के समान नारी मंगलसूत्र के पवित्र बन्धन में बंधकर जीवन पर्यन्त समाज को, संस्कृति को, नैतिकता को, आदर्शों को और शील को अपना चारित्र-क्षीर पिलाती है जिससे उन्हें दीर्घ जीवन के वरदान मिलते हैं। भारत के सांस्कृतिक स्तोताओं ने नारी को पृथ्वी के समान सर्वसहा कहकर उसकी अपार सहिष्णुता के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया है। संसार के विद्वान्, दार्शनिक, शूरवीर, ऋषि-महर्षि और तीर्थंकर गर्भधात्री नारी की संस्कार-विशुद्ध कुक्षि के मुक्ताफल हैं। संस्कारी समाज पर, धार्मिक लोक पर, चारित्र-सम्पन्न जातियों पर नारी जाति का अपार ऋण है। युग-युगान्तरों से मूक-मौन साधिका रह कर नारी ने इस संसार को स्वर्ग से भी उन्नत ऊंचाइयों पर पहुँचाया है। वह वीर पुंगवों की जन्मदा है, धार्मिकों की संस्कारदा है। धनिकों की सम्पत्तिदा है और वीतरागों की मोक्षदा है। धर्म, अर्थ, काम त्रिवर्ग के साधन में नारी का प्रमुख स्थान है। उषा के समान ब्राह्मवेला में उठकर गार्हस्थ्य भवन के बासीपन को वह धो डालती है। तन और मनः शुद्धि पूर्वक वह नित्य कर्म में अहोरात्र लगी रहती है। परिवार को सात्विक भोजन परोसती है, देव दर्शन के लिए पुरुषों से भी पूर्व मन्दिर पहुँच जाती है। मुनि पर-मेष्ठियों को आहारदान कर वैयावृत्य का पालन करती है। व्यवसाय निमित्त से हाट-बाजार बैठने वाले पति के समस्त विकार को अपने शरीर पर लेकर उसे पवित्र, निर्मल भावों के साथ बाहर उन्मुक्त विचरने के लिए सुविधा प्रदान करती है। नारी समाज शास्त्र की पुस्तक का प्रथम सुवर्ण पृष्ठ है जहां से मानव के गरिमामय इतिहास का आरम्भ होता है। पुरुष से अधिक सहिष्णु, धर्मपालक, व्रताचारपरायण, सर्वदा स्थिर, सनातन मर्यादाओं को आंचल में समेटे, अकम्प गति से चलने वाली नारी मनुष्य जाति का सर्वोपरि शृंगार है। देहली पर धरा हुआ दीपक जैसे घर और बाहर उज्ज्वलता बिकीर्ण करता है, उसी प्रकार पुरुष के वैवाहिक सम्बन्ध में नियन्त्रित नारी पितृकुल और श्वसुरकुल दोनों को पवित्र,

धन्य और यशस्वी कर देती है। नारी को क्षेत्र और पुरुष को बीज माना गया है। इस लिए नारी की क्षेत्रविशुद्धि को अधिक महत्त्वपूर्ण समझना भारतीय समाज-शास्त्र की दूरदर्शिता है। विधवाविवाह का निषेध, एक पतिव्रत पालन, इत्यादि नियम नारी के अखण्ड सहयोग से चिरकाल से परिपालित हो रहे हैं और इस प्रकार नारी चतुर्वर्ग की संरक्षिका है, रजोवीर्य संप्लव से उत्पन्न होने वाले सांकर्य दोषों की नियामिका है। राम, कृष्ण, महावीर इसी जननी की अंकशय्या में पल कर महान् हुए हैं। एक सच्चरित्र नारी जो उपदेश अपनी सन्तान को दे सकती है संसार की बड़ी-बड़ी पाठशालाएँ और विश्वविद्यालय उसका ककहरा भी नहीं जानते। नारी के इन असीम गुणों का सर्वग्राही परिचय शब्दों में दे सकना तो कठिन ही है। इस प्रकार की गुणावली से सुशोभित नारी का सम्मान जैनों की धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परम्परा में समान रूप से किया जाता रहा है। उन सूक्तों में, जिनमें नारी वैशिष्ट्य का वर्णन हुआ है, गंगा की दूधिया धार ही छलछला उठी है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:' जहां स्त्रियों को समुचित सम्मान मिलता है वहां देवताओं का निवास होता है। विश्व के विभिन्न साहित्य में नारी को नरक मार्ग की निःश्रेणी, पापों की खान, अपवित्र और विषय वल्ली, मोहलता इत्यादि कह कर कोसा गया है और इस स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं कि ये सब विशेषण मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता, अथ च आत्मपराजय के ही मुखर घोष हैं। नारी के प्रति मानव का अस्वस्थ दृष्टिकोण है। स्वयं की कामुक प्रवृत्तियों का पंक उछालना है। वास्तव में नारी का इसमें कोई भाग नहीं। मनुष्य के अहंकार ने, बलदर्प ने नारी को केवल शरीर समझा, उसे आभूषणों के समान सम्पत्ति माना और केवल अपनी वासना क्षुधा का खाद्य माना, इसी परिप्रेक्ष्य में नारी को लेकर बड़े-बड़े दार्शनिकों ने भी कठोर शब्दावली का प्रयोग किया है। किन्तु इसमें दोषयुक्त पुरुष वर्ग ही है। यदि पुरुष मातृजाति पर किये गये सहस्र वर्षों के अपराध का प्रायश्चित्त करना चाहता है तो उसे तत्परता से अपने में शीलविशुद्ध नियमों का परिपालन करने की आदत डालनी चाहिए। क्योंकि—

'नारी निन्दा मत करो, नारी नर की खान।
नारी से नर ऊपजे, जैसे तीर्थंकर भगवान्॥

जैन धर्म नारी की इन विशेषताओं को सदा से मान्यता देता आया है। उसके चतुर्विध संघ में श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका का समान स्थान है। [illegible] विसंवादों पर नारीवर्ग की सम्मति-विमति को महत्वपूर्ण माना गया

है। ब्राह्मी, सुन्दरी, अंजना, अनन्तमती, चन्दना और सती सीता जैसी तपस्विनियों पर जैन धर्म गर्व करता है। स्तुतिपदावली में भी उन उत्तम प्रसविनी माताओं का उल्लेख करते हुए कवियों को रोमांच होता है। 'भक्तामर' स्तोत्र में श्रीमान-तुंगाचार्य भगवान् की विनति करते हुए कहते हैं—

> 'स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्
> नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
> सर्वा दिशो दधति भानि, सहस्ररश्मिं
> प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥

'सहस्र-सहस्र स्त्रियां पुत्र उत्पन्न करती हैं किन्तु ऐसी भागवन्ती माता, जिस ने तुझ तीर्थंकर को जन्म दिया, अन्य नहीं। सभी दिशाएं ताराओं से युक्त हैं किन्तु सहस्रों किरणों से उद्भासित सूर्य को तो पूर्व दिशा ही उत्पन्न करती है।' यहां जनयित्रीसम्बन्ध से भगवान् ऋषभनाथ की माता का जो स्मरण किया गया है वह कितना मार्मिक है। ऐसे रत्नों को प्रकट करने वाली स्त्री जाति के प्रति कितनी आस्थाशील कृतज्ञता का ज्ञापन है।

जैन धर्म स्त्री जाति को उन्नति और कल्याण साधना के अवसर सुलभ करता है। वैदिकों के समान 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' कहकर स्त्रियों को स्वाध्याय से वंचित नहीं करता। 'आर्यिका' पद से वह नारीपर्याय में ही 'एकादशांग' शास्त्र-स्वाध्याय करने की अधिकारिणी है। दिगम्बर जैन मत में नारी को ही वह विशिष्ट उच्चासन प्राप्त है, जो मुनि कोटि का है। पंच महाव्रतों के धारण के लिए सर्वथा निर्ग्रन्थ होना आवश्यक है किन्तु आर्यिकाओं को दो वस्त्रखण्ड रखते हुए महाव्रत धारण की अनुमति है। उपचार से वे महाव्रतधारिका ही मानी गई हैं। एकादश प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक एक वस्त्र रखकर भी उपचरित महाव्रत-धारी नहीं है, वहां दो वस्त्र खण्ड रखकर तत्सम मान्यता स्त्रियों को दी गई है। यह जैन धर्म की उदार दृष्टि का समर्थ प्रमाण है। सागार धर्मामृत का कथन है—

> 'कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
> अपि भक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकाऽर्हति' ॥३६॥

अर्थात् एक मात्र कौपीनधारी भी ऐलक महाव्रत का अधिकारी नहीं और दो साटिकाएं रखकर भी आर्यिकाएं उस महाव्रत की अधिकारिणी मानी गई हैं।

स्त्रीपर्याय होने से ही लोकदृष्टि के विचार से आर्यिकाओं को दो वस्त्र धारण रखने की छूट दी गई प्रतीत होती है।

'हरिवंश पुराण' के एकादश सर्ग में जयकुमार और सुलोचना का प्रसंग निर्देश करते हुए सुलोचना को ग्यारह अंग का धारण करने वाली 'आर्यिका' बताया गया है—

'द्वादशांगधरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी।
एकादशांगभृज्जाताऽर्यिकापि सुलोचना ॥'

भारत क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली इन नारियों का तप, त्याग, शील, सौजन्य, दाक्षिण्य और क्षमाभाव अप्रतिम है। अपना सम्पूर्ण स्नेह (तैल) देकर जिस प्रकार दीपक निर्वाण को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार परिवार के लिए, पुत्र-पौत्रादि सन्तान के लिए, पति के लिए और धर्म के लिए निरन्तर स्त्रियां ही बलिदान करती आई हैं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने नारी जाति की अर्चना करते हुए लिखा है:—

'अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी
आंचल में हो दूध और आँखों में पानी

हिन्दी के महान् कविदार्शनिक जयशंकर 'प्रसाद' ने नारी को श्रद्धा का स्वरूप कहते हुए लिखा है 'नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो,। नारी चेलना है, उसकी अन्तश्चेतना नित्य जागरूक रह कर मुनि-परमेष्ठी को उपसर्ग से बचाती है, वह सती सीता है जो श्रीराम द्वारा जनापवाद से परित्यक्ता होकर भी राम के लिए मन में किसी प्रकार की हीन भावना न लाते हुए सेनापति कृतान्तवक्त्र से कहती है कि 'राम से कहना कि वह मेरे समान लोकनिन्दा भय से कभी धर्म को न छोड़े', वह दानचिन्तामणि (अत्तिमब्बे) नाम की वह महिला है जिसने पति के स्वर्गारोहण के पश्चात् राज्यसंचालन किया और दुर्लभ जैन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवा कर उन्हें सुरक्षित किया। नारी क्षमा है, पुरुष के रोष, दोष को अपने में पचाकर उसे निर्मलत्व प्रदान करती है। चन्दन की लकड़ी के समान जल जल कर भी सुगन्धि फैलाती है। कुसुमकलिका के तुल्य कुचली जाकर भी परिमल देती है।

ऐसी गुणवती स्त्री जाति के प्रति यदि कोई असंस्कारवश असत् धारणा बनाता है तो वह अपने ही मलिनाशय मन में स्थित पंक का विलोडन करता है। वराहमिहिर ने बृहत् संहिता में लिखा है—

'अहो ! धाष्ट्र्यमसाधूनां निन्दतामनघाः स्त्रियः ।
मुंचतामिव चौराणां तिष्ठ चौरेति जल्पताम् ॥७४॥'५

अर्थात् जो पुरुष पवित्र स्त्रियों की निन्दा करते हैं उनकी यह बड़ी धृष्टता है। जैसे कोई चोर किसी भद्रमानुष को 'चोर' कहने का साहस करे। वास्तव में स्त्रियां निर्दोष हैं। उनकी संयमसाधना पर शील का महासमुद्र लहरा रहा है, उनकी धर्म-निष्ठा पर मन्दिरों के शिखर खुले आकाश में कलहंसों के समान उड़ रहे हैं, उनकी पवित्र कुक्षि के प्रताप से जातियों की रक्तविशुद्धि स्थित है और उनके सतीचरित्र से वर्णसांकर्य का महापातक समाज में प्रवेश नहीं कर पाया है। एक सती नारी अपने दैनिक-व्यवहार में जितना तप तपती है, शील पालती है, दान करती है, संस्कारों को व्यावहारिक बनाती है उतना सौ मनुष्य मिलकर भी नहीं करते। कदाचित् पुरुष को हीरे के समान संस्कारादि के निकषोपल पर तराशना पड़े किन्तु नारी तो मोती के समान प्रकृति से ही गुणों की आगार है, जिस पर कृत्रिम आभा (आब) चढ़ाने की आवश्यकता नहीं। महापुराण में लिखा है कि—

'विद्यावान् पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः ।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ॥'

यदि पुरुष विद्वान् है तो संसार में अभिज्ञ जनों से सम्मान पाता है और यदि नारी विदुषी है तो वह स्त्री जाति में अग्रिम स्थान पर विराजमान होने की अधिकारिणी है।

नारी की अवमानना करने से जीवन की शान्ति भंग हो जाती है। क्योंकि 'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते' अर्थात् सुन्दर प्रकोष्ठों, अटारियों, गवाक्षों से शोभायमान भवन को 'घर' नहीं कहा जाता घर तो 'गृहिणी' का दूसरा नाम है। लोकप्रवाद है कि 'बिन घरनी घर भूत का डेरा' बिना गृहिणी (पत्नी) के घर श्मशान के समान है। इस लिए पुरुष को 'गृहदेवता' नहीं कहा जाता किन्तु स्त्रियों को 'गृहलक्ष्मी' कहना सामान्य बात है। इस जीवलोक में जितने सुख हैं संसारी के लिए उनमें उत्तम स्त्री प्रथम सुख है क्योंकि अन्य सभी सुख स्त्री को केन्द्र मान कर परिधिव्याप्ति में घूमते रहते हैं। इसीलिए 'प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च' नीतिकारों ने कहा है। पुरुष के जीवन को नियमितता और सच्चरित्रता स्त्री से ही मिलती है। स्त्री का अर्थ केवल स्त्री ही नहीं है अपितु पुत्र-पौत्रादि परिवार है

इसलिए व्यापक रूप से स्त्री पुरुष के सांसारिक वैभव का केन्द्र बिन्दु है। स्त्रियां ही व्यसनमग्न पुरुषों का उद्धार करती हैं, वे एकान्त की मित्र और विपत्ति में आलम्बन होती हैं। सीता ने वनवास के लिए प्रस्थान करते हुए राम से कहा 'अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुश-कण्टकान्' अर्थात् यदि तुम वनवास के लिए अकेले ही जाने का विचार करते हो तो स्मरण रहे, मैं तुम्हारे वनमार्ग के कुशों, कांटों को अपने पैरों से कुचलती हुई आगे आगे चलूंगी। यहां सीता के वचन किंचित् उद्धत हैं क्योंकि नारी सदा ही पति के अनुपद (पीछे) चलती हैं किन्तु यहां तो सीता राम के आगे आगे चलने का हठ कर रही है। तथापि यह धृष्टता, यह हठ इतना संवेदनशील है कि इसकी रूढता भी मन को भावमुग्ध कर देती है। कवि 'प्रसाद' के नारी के प्रति ये शब्द कितने मार्मिक हैं।

'तुम देवि! आह, कितनी उदार
यह मातृमूर्ति है निर्विकार'—कामायनी—

गृहस्थ के करणीय दैनिक षट्कर्मों का क्रियात्मक पालन प्रायः स्त्री ही करती है। पुरुषवर्ग को व्यावसायिक निमित्तों से घिरा रहना होता है। अतः—

'देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने॥'

देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन दैनिक षट् कर्मों का आचरण स्त्री ही करती है। इस प्रकार वह पुरुष के करणीय उत्तम कर्मों में हाथ बटाती है और अर्धांगिनी पद को सार्थक करती है। देवपूजा से वह धर्मोपदिष्ट मार्ग से आत्मकल्याण और समस्त परिवार की मंगलसम्पदाओं को संवर्धित करती है। मुनिपरमेष्ठी को आहारदान से वह अपने चौके को पवित्र करती है, उपदेश श्रवण कर ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करती है। स्वाध्याय से, संयम से और तप तथा दानकर्म से अतीत काल से चले आ रहे सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक सौष्ठव को पुनर्जीवन प्रदान करती है। ऐसी गुणावलि विभूषित सती नारियों का सम्मान करना पुरुषवर्ग का आवश्यक कर्तव्य है। आधुनिकता में पलने वाले नारी को 'वाइफ' कहते हैं और उसके पत्नीत्वगर्भित समस्त आध्यात्मिक सौन्दर्य को मिटाकर केवल 'भोगिनी' रूप में उसको सम्मान प्रदर्शित करते हैं तथा कुछ असंस्कारी लोग उसे चरणपादुका (पैरों की जूती) समझते हैं। वास्तव में ये दोनों ही स्थितियां नारीसम्मान के

विरुद्ध है। आवश्यकता है नारी को मानवीय दृष्टिकोण से परखा जाए और जीवन का अभिन्न अंग मानकर शास्त्रों में अंकित उसके स्वरूप को पुनः उजागर किया जाए। भगवान् महावीर की माता प्रियकारिणी जब महाराज सिद्धार्थ के पास स्वप्नफल पूछने गई तो महाराज ने उसे अर्धासन देकर सम्मानित किया और फिर आवश्यक प्रश्न पूछा। देखिए उत्तरपुराण—

'सम्प्राप्तार्धासना स्वप्नान् यथाक्रममुदाहरत्'

'अमरकोष' में नारी के पर्यायी शब्दों का उल्लेख करते हुए लिखा है—

'पत्नी पाणिगृहीती च द्वितीया सहधर्मिणी।
भार्या जायाथ पुंभूम्नि दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी॥'

इन पर्यायवाचक शब्दों में नारी का गृहस्थपरक इतिहास अंकित है। प्रत्येक शब्द सामान्यतः एक दूसरे का विशेषण होते हुए भी परस्पर पृथक है और नारी के क्रमिक विकास को सूचित करता है। यथा 'पत्नी' दाम्पत्यजीवन का प्रथम स्त्रीपरक संबोधन शब्द है जब उसका यथाविधि पाणिग्रहण हो जाता है तो वह 'पाणिगृहीती' होती है। पति की द्वितीया होने से उसे 'द्वितीया' और गृहस्थधर्म का साथ आचरण करने से 'सहधर्मिणी' उसे कहा जाता है। वही कुटुम्ब का भरण करती है तथा उत्तमोत्तम व्यंजनों से परिवार को पुष्टि प्रदान करती है अतः उसे 'भार्या' पद से विभूषित किया जाता है। उसमें कालान्तर में पुत्र-पुत्री आदि सन्तानोत्पत्तिहोती है, अत एव उसे 'जाया' कहते हैं। इसके अनन्तर कोषकार ने उसे पुंल्लिग में बहुवचन से सम्बोधित किया है। क्योंकि अब तक की अवस्थाओं को पारकर वह घर की केवल 'कुलवधू' ही नहीं रह जाती प्रत्युत माता, पितामही, मातामही आदि रूप में कुलवृद्धा हो जाती है। अतः उसे आदरार्थ पुंल्लिग तथा बहुवचन देना उपयुक्त ही है। 'कुटुम्बिनी' शब्द भी इसके पश्चात् की नारीकी पारिवारिक सम्पन्नता को सूचित करता है। प्रत्येक नारी इस प्रकार के वास्तविक गरिमामय पद को उत्तरदायित्व के साथ निर्वहण करे तथा पुरुष वर्ग भी नारीअधिकार की इस वास्तविकता को हृदय से अंगीकार कर उसके स्वरूपविकास में सहयोग दान करे, यह आज अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा होने से नारी एक उत्तम श्राविका, धर्मचारिणी श्रमणी होगी, होती रहेगी तथा अपने नारी पर्याय से भवान्तर में मुक्ति प्राप्त कर सकेगी। जिस प्रकार भित्तियों के आधार पर विशाल भवन अवस्थित होता है उसी प्रकार नारी के आश्रय पर

गृहस्थ का भली प्रकार निर्वाह होता है। जैसे दीपक को सुप्रकाशित रखने के लिए उसमें 'स्नेहदान' किया जाता है और 'गुण' की रक्षा के लिए ध्यान रखा जाता है। यदि प्रकाश मंद्धम हो जाता है तो उसकी बत्ती पर आया हुआ 'मोर' झाड़ दिया जाता है। इसी प्रकार नारी के गुणों की रक्षा के लिए उसे स्नेह मिलना चाहिए। पति के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पित करने वाली नारी स्नेह की अधिकारिणी है उसके गुणों की रक्षा करनी चाहिए और कदाचित् उस पर किसी प्रकार की कुण्ठा का 'मोर' लग जाए तो उसे तोड़ कर उसके उज्ज्वल रूप की रक्षा करनी चाहिए ताकि इस भवाटवी के अन्धकार में वह पुरुष की मार्गदर्शिका रहे उसे अपथ से बचावे और उत्तम गृहस्थ के गुणों द्वारा इह-परलोक को प्रशस्त करे। किसी नीतिकारने सत्य ही लिखा है कि—

'अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥'

अर्थात् अश्व, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, नर और नारी ये स्वयं में योग्य अथवा अयोग्य नहीं होते अपितु यदि इन्हें उत्तम संसर्ग में रखा जाय तो उत्तम और निकृष्ट संगति में रखने से अधम बन जाते हैं। मणि को यदि 'रंग' (राँगा) में जड़ दिया जाए तो वह शोभायमान नहीं होती। यद्यपि मणि स्वरूप में शोभामयी है तथापि अधम संपर्क से उसमें गिरावट (पतन, अधमता) आ जाती है। नदियों का नीर मधुर ही होता है किन्तु समुद्र में मिलते ही वह 'खारा' हो जाता है यही स्थिति नारी की है। उसके उत्तम गुणों का विकास योग्य वातावरण उपस्थित करने से, उस पर विश्वास रखने से होता है। निरन्तर कुण्ठा से जर्जर वातावरण तो उसे पंकगतित मणि के समान प्रभाहीन कर देता है।



चारित्र बिना मुक्ति नहीं

चारित्र विना मुक्ति नहीं

संसार के अनन्तानन्त पदार्थों में आसक्त पुरुष अपने देह के समान उन-उन पदार्थों में रति करता हुआ और उन्हें ही सुख का कारण मानता हुआ पुनः पुनः संसार में भ्रमण करता रहता है और जिस भुक्ति को वह अतृप्त होकर बारंबार भोगता है, वही परिणाम में उसे जन्म-जरा-व्याधि के चक्रावर्त में परिभ्रमण कराती हुई कर्मों के जटिल पाश में आबद्ध करती रहती है। जैसे नौका नाविक को ले जाती है और नाविक नौका को ले जाता है उसी प्रकार कर्मपरिणाम मनुष्य को और मनुष्य कर्मपरिणामों को लिये हुए संसारसमुद्र पर आते जाते (यात्रा करते) रहते हैं। अनेक भव-भवान्तरों में भी उसे घोर अरण्य से निकलने का मार्ग नहीं मिलता। परन्तु कभी कभी कर्मयोग से, गुरुकृपा से वह मार्ग मिल जाता है, जिस पर चलकर यह प्राणी मुक्ति के द्वार पर जा पहुंचता है। इन पार्थिव विषयों के प्रति तीव्र विराग और आत्मा में एकनिष्ठ निमग्नता तथा स्व-पर-पर्यायका वास्तविक उन्मीलन होने से इसे जो दृष्टि प्राप्त होती है, उसे सत्य दृष्टि कहते हैं। पारिभाषिक—शब्दावली में इसी को दर्शनज्ञानचारित्र-संवलित सम्यक्त्व के नाम से अभिहित किया गया है। परीक्षामुख में इसका लक्षण निरूपित करते हुए कहा है—'हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्'—अर्थात् जो हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ है वही स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मक सम्यग् ज्ञान है, वही 'प्रमाण' भी है। ('प्र' अर्थात् प्रकृष्ट 'मा' अर्थात् अन्तरंग केवल ज्ञान एवं बहिरंग समवसरण-मूलकलक्ष्मी और 'अण' दिव्य ध्वनि—इस प्रकार प्रकृष्ट, अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी समन्वित दिव्यध्वनि ही अर्थात् भगवान् जिनेन्द्र की वाणी ही सर्वोपरि प्रमाण है।) वह सम्यग्ज्ञान जो सम्यग्दृष्टि भव्यात्मा को ही प्राप्त होता है, प्राणी के अनन्तानुबन्धी कर्मों का क्षय करने में कारण होकर चारित्रसाधना के लिए प्रवृत्त करता हुआ 'मोक्ष' हेतु होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

> 'णाणी हवेइ कम्मं णाणबलेण दि सुबोभए अण्णाणी।
> विज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही।'

ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानबल से कर्मों को नष्ट कर देता है, ऐसी स्थापना करने वाला वस्तुतः अज्ञानी है क्योंकि बिना चारित्र के एकाकी ज्ञान कर्म-नष्टि के लिए समर्थ नहीं हो सकता। मैं सब औषधियों को जानता हूं और श्रेष्ठ भिषक् हूं ऐसा कहने मात्र से क्या व्याधियां नष्ट हो जाती हैं? व्याधि के नाश के लिए तो औषधि का सेवन ही समर्थ है। प्यास लगने पर शीतल जल से भरे हुए कुम्भ का नाम लेने या स्मरण करने से तृषा की निवृत्ति नहीं हो सकती, किसी निश्चित गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए किसी वाहन का ध्यान करने मात्र से बिना चले वहां नहीं पहुँचा जा सकता। इसी प्रकार ज्ञान मात्र से अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। कर्मों के नाश तथा नवीन कर्मों के बन्ध को रोकने के लिए तो इस सम्यक्त्वसंभृत दर्शन, ज्ञान, चारित्र की शरण में ही जाना अनिवार्य है। भव्यजनकण्ठाभरणकार ने लिखा है—

सज्ज्ञानमत्र क्षतभाविकर्म
सद्वृत्तमस्तार्जितकृत्स्नकर्म।
सम्यक्त्वमेतद् द्वयपुष्टिहेतु-
रिति त्रयं स्यात् सफलं तदेव ॥२२०॥

अर्थात् सम्यग्ज्ञान भावी कर्मों का क्षय करता है। सम्यक् चारित्र समस्त अर्जित कर्मों को (पूर्व संचितों को) नष्ट कर देता है और सम्यग् दर्शन इन दोनों की पुष्टि करता है। अपने अनिमीलित चक्षुओं से पोषण प्रदान करता है। इस प्रकार तीनों ही सार्थक हैं।

विनिर्मलं पार्वणचन्द्रकान्तं
यस्यास्ति चारित्रमसौ गुणज्ञः
मानी कुलीनो जगतोऽभिगम्यः
कृतार्थजन्मा महनीयबुद्धिः ॥ अमितगति०

अत्यन्त विशुद्ध (निर्मल) पौर्णमासी के चन्द्रमा के समान कान्त चारित्र जिसके पास है वही गुणज्ञ है, वही मानयुक्त है, कुलोत्पन्न है, संसार में वन्दनीय है तथा उसी का जन्म सफल है और वही महनीय बुद्धि अर्थात् महान् बुद्धिमान् है।

इस चारित्र की महिमा अपार है। सागारधर्मामृत में निरूपण किया गया है कि—

'आराध्य चरणमनुपममनादिमिथ्यादृशोऽपि यत् क्षणतः।
दृष्ट विमुक्तिभाजस्ततोऽपि चारित्रमत्रेष्टम् ॥'

अर्थात् जो अनादि मिथ्यादृष्टि हैं वे भी इस अनुपम (उपमारहित) चारित्र का आराधन कर क्षण मात्र में मुक्ति प्राप्त करते देखे गये हैं इसलिए भी चारित्र धारण करना चाहिए।

चारित्रहीन की सभी क्रियाएं व्यर्थ हैं। चारित्रसम्पन्न व्यक्ति समाज में आदर्श की स्थापना करता है। लोग अनिमेष दृष्टि से चारित्रश्रेष्ठ व्यक्तियों, महानुभावों के आचरण को देखते रहते हैं कि वे कैसे चलते हैं, कैसे बैठते हैं, किस प्रकार सम्भाषण करते हैं।

'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥'

'उत्तम पुरुष जैसा आचरण (चारित्रपालन) करता है उसे देखकर सामान्य जन भी वैसा ही अनुसरण करते हैं, करने लगते हैं। वह जिसे प्रमाण मानता है, लोक उसे ही प्रमाण मानने लगता है।'

इसी लिए जो साधु पुरुष हैं उन को अपनी चारित्रविशुद्धि पर नितरां अवधान रखना आवश्यक है। क्योंकि, उनके द्वारा पालन किया जाने वाला चारित्र न केवल उन्हीं के लिए है अपितु सभी उससे प्रेरणा-प्रसाद प्राप्त करते हैं! महर्षि वाल्मीकि ने नारद मुनि से प्रश्न किया था कि—'चारित्रेण च को युक्तः' चारित्र की सम्पत्ति से युक्त कौन है? उन्होंने श्रीराम का नाम लिया। जो व्यक्ति चारित्ररक्षक है वह धर्म के मूल की रक्षा करता है। क्योंकि धर्म का मूल चारित्र ही है। चारित्र से पतित की शास्त्र भी रक्षा नहीं करते। समाज में भी चरित्रवान् का स्थान सर्वोपरि है। आदर्शों को सम्यक्चारित्रपरिणत करने वालों में भगवान् महावीर का स्थान प्रमुख है।

'यद्यपि विमलो योगी छिद्रान् पश्यति मेदिनी।
तथापि लौकिकाचारं मनसापि न लंघयेत् ॥'

यद्यपि योगी (साधु) विमल ही है, निर्मल चारित्रवान् ही है तथापि संसार अपनी छिद्रान्वेषण की प्रकृति से लाचार है। अतः लौकिक आचरण को व्यवहार से तो लंघन करना बहुत दूर की बात है, मन से भी उपेक्षित नहीं करना चाहिए। एक और सुभाषित है—'अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः' जो धन-द्रव्य से क्षीण है, वह तो क्षीण होकर भी अक्षीण है किंतु जो वृत्त से (चारित्र से) पतित हो गया वह तो मृतक के समान ही है। क्योंकि "चरित्र वान् शीलसमा-

स्वप्रेभ्यनात्सदन्ति चारित्रमिदं महाव्रतम्' शील धारण करने वाले तपस्वी जो आचरण-पालन करते हैं वह चारित्र महाव्रत है। लोक सज्जन-असज्जन को चारित्र की कसौटी पर ही परखता है। विमल चारित्र से ही उसके साधुत्व का परिज्ञान होता है।

'न चारित्रात् परं तपः'—चारित्र से बढ़कर कोई तप नहीं। इस चारित्र-वह्नि से समस्त अन्तर्बाह्य दोषों का, मलों का क्षय हो जाता है। चारित्र का उल्लंघन महान् अपराध है। यह लोक चारित्र पर प्रतिष्ठित है। सूर्य, चन्द्र, तारागण, पृथ्वी और समस्त जड़ चेतन इस चारित्र से कीलित हैं। सूर्य यदि स्वचारित्र पालन न करे तो लोक में अन्धकार फैल जाए, चन्द्रमा यदि अपना पीयूषवर्षी चारित्र छोड़ दे तो औषधियों का परिपाक और उनमें रसोत्पत्ति रुक जाए, पृथ्वी यदि अपना सर्वसहात्व त्याग दे तो लोक में विप्लव आ जाए, भूडोल से जड़-चेतन थर्रा उठें। चारित्र तो वस्तुतः स्वधर्म है। ताप और प्रकाश अग्नि के सहज धर्म हैं। वे ही उसके निसर्ग चारित्र भी हैं। एतावता चारित्र कोई ऊपर से आरोपित विजातीय वस्तु नहीं, वह तो 'स्व' का स्वभाव ही है। इस लिए उसका सहज पालन कोई आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य अथवा दुःख तो उसके न पालन करने में है। मनुष्य तथा मनुष्य के सम्पर्क में आने वाले पशु-पक्षियों को छोड़कर प्रकृति की उन्मुक्त सन्निधि में विचरण करने वाले जीव आज भी अपना नैसर्गिक चारित्र पालन करते देखे जाते हैं किन्तु प्रकृति पर विजय पाने वाला अथ च प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण से विलग यह मनुष्य सीखने पर भी अपने मूलगुण को भूल-भूल जाता है। बुद्धि के धनी, ज्ञान के भण्डार, पुरुषार्थ के सहचर इस महान् सामर्थ्यशील प्राणी का यह अविवेक अक्षम्य है।

> आचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः।
> आचारः परमं ज्ञानं आचारात् किं न साध्यते॥

यह आचार (चारित्र) परम धर्म है, यही परम तप है, परम ज्ञान भी यही है। इस आचार से ऐसा क्या है जिसे सिद्ध नहीं किया जा सके। कहावत है कि 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः'—सारे पदचिह्न हाथी के पैर में समा जाते हैं, उसी प्रकार सभी उत्तम गुण चारित्र में सन्निविष्ट हैं।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र के दो उत्तम सहचर हैं। क्यों कि, सम्यक्चारित्र के लिए दर्शनविशुद्धि होना और सम्यग् ज्ञानोपलब्धि दोनों नितान्त अपेक्षित हैं। कहते हैं—

'ज्ञानं पंगु क्रिया चान्धा निःश्रद्धे नार्थकृद् द्वयम् ।
ततो ज्ञान-क्रिया-श्रद्धात्रयं तत्पदकारणम् ॥'

अर्थात् अकेला ज्ञान लंगड़ा है, अकेली क्रिया नेत्रविहीन है, श्रद्धारहित ज्ञान और क्रिया निरर्थक हैं अत एव ज्ञान क्रिया और श्रद्धा तीनों संयुक्त होकर ही मोक्ष का कारण हैं।

सम्यग्दर्शन से स्व-पर-पदार्थ-प्रत्यायिका सदसद्-विवेकिनी दृष्टि प्राप्त होती है। जो वस्तु जिस स्वरूप में है वही रूप उसका गोचर होता है। इस सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान का उदय होता है। जिस प्रकार सूर्य का ताप और प्रकाश युगपत् ही विलष्ट होकर उदित होते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग् ज्ञान युगपत् ही रहते हैं। सम्यग्दर्शनज्ञान के अनिमीलित उन्मेष में चारित्र अपने सम्यग्-आचरण में प्रवृत्त होता है।

इस दर्शन और ज्ञान के महाप्रभावी आलोक में परपदार्थ और 'स्व' का यथार्थ स्वरूप विदित हो जाने से मन में सांसारिक वस्तुओं के प्रति तीव्र विरक्ति और वैराग्य का उदय होता है और चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, स्पर्श को आकर्षित करने वाले विषय अपने नग्नस्वरूप में विकृत और हेय प्रतीत होने लगते हैं।

'मन एव हि संसारः'—संसार का कारण मन ही है। क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयन, आसन, और भाण्ड तथा मिथ्यात्व, वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष—ये सब अन्तर्बाह्य परिग्रह मनः प्रसूत ही हैं। किन्तु जिस प्रकार सर्प जीर्ण कंचुकी को छोड़ देता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व में प्रतिष्ठित मन, इन परिग्रहों को त्याग कर लघु-भार हो जाता है। अधोगति से निकलकर वह ऊर्ध्वगामी होने लगता है। इससे उसके परिणामों में भव्यता का प्रवेश होता है। कहा है—'उन्नतं मानसं यस्य भाग्यं तस्य समुन्नतम्'—जिसका मन उन्नत है उसका भाग्य भी समुन्नत है। वह समुन्नत मन शनैः शनैः विषय-विकार-दूषित अभव्य, क्षणिक, रागात्मक, बन्धमूलक परिग्रहपरिवार से परिव्राजक की तरह अपने को अलग कर लेता है। यह जीव की तपोमय अवस्था है जब कि वह इच्छाओं का दमन करने में सुखानुभव करता है। तप की पूर्वावस्था का स्वरूप ही यह है कि असद् वस्तुओं से विराम—'इच्छा निरोधस्तपः'—इच्छाओं का निरोध ही तप है। निरीह-निरिच्छ होने से चंचलता का नाश हो जाता है, चांचल्यनाश से मन-वचन और काय में एकाग्रता उत्पन्न होती है। यह एकाग्रता समाधि-अवस्था की कारण है।

समाधि से अखण्ड आनन्द की उपलब्धि होती है। ज्ञान-ऐश्वर्य और वीर्य में सातिशय उद्रेक का उदय होता है। दुःख, दुर्गति, भय, कष्ट, अभाव और अपूर्णता का क्षय होता है। भगवान् की भक्ति में देर तक एकचित्तता आती है। ज्ञान, भक्ति और आनन्द की इस त्रिधारा में स्नान कर अन्तर-बाहर के सब पाप धुल जाते हैं। धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थों की समसेविता से परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति करतलगत हो उठती है। कहा है—

'एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥—

भगवान् जिनेन्द्रदेव की एकमात्र भक्ति ही अशेष-दुर्गतियों का शमन-निवारण करने में समर्थ है। वही पुण्यों को पूरने में और मोक्षलक्ष्मी प्रदान करने में भी समर्थ है।

इस प्रकार सम्यक्त्व-संबल-संस्तुत यह जीव और उसका मन निरन्तर निर्मलता, उज्ज्वलता, प्रकाश और उन्नति के मार्ग पर बढ़ते जाते हैं। मन के द्वारा स्वेच्छा से परपदार्थ और भार समझकर परिग्रह का जो त्याग किया जाता है उस में मन की दीनता नहीं अपितु उच्चभूमि में प्रवेश तथा सम्पन्नता ही प्रतीत होती है। कहते हैं—

'बाह्यग्रन्थविहीना दरिद्रमनुजाः स्वपापतः सन्ति।
पुनरभ्यन्तरसंगत्यागी लोकेषु दुर्लभो जीवः ॥,

अर्थात् अपने पापों के परिणामस्वरूप विवशता हेतु से धन-भूमि-परिवार आदि परिग्रहों से रहित दरिद्र मनुष्य तो बहुत से हैं किन्तु स्वेच्छा से, अभ्यन्तर से संग का, परिग्रह का त्याग करने वाले जीव सुदुर्लभ हैं।

सम्यग्दर्शन ज्ञानानुयोग से आप्यायित चारित्रभवन की एक एक ईंट को रखने वाला साधक उस भवन चिनने वाले स्थपति के समान निरन्तर ऊपर को उठता जाता है और इतने रज्जु ऊपर उठ जाता है कि मोक्षलक्ष्मी का आयतन उसकी आतिथ्यसपर्या के लिए एक दिन उपस्थित मिलता है। सम्यक्त्वसाधना से विषय-कषाय उसी प्रकार मन्द अथ च क्षीण हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि के ताप में मालती की माला। आनन्द, निरवच्छिन्न आनन्द-सिन्धु के उत्ताल ऊर्मिल प्लव पर समारूढ वह गा उठता है न चारित्रात्परं तपः।

पिच्छि और कमण्डलु

संयम के उपकरण

पिच्छि और कमण्डलु

अचेलक मुनि किसी प्रकार के परिग्रह-परिच्छद को धारण नहीं करते और आत्मसाधन में निमग्न रहकर मोक्ष-मार्ग के चिन्तन में अपने 'स्व' का उपयोग करते हैं। वे स्वल्पाशी, अल्पभाषी, निराकुल, कृशकाय और कचलोंच-विधि से मुण्डित होते हैं। सर्वथा त्यागमय जीवन व्यतीत करने वाले इन मुनियों को शास्त्र संयम के उपकरण 'पिच्छि और कमण्डलु' रखने की स्वीकृति देता है। क्योंकि दिगम्बर साधु सर्वथा अहिंसा का पालन करते हैं और किसी कीट-पतंग को भी बाधा नहीं पहुँचाना चाहते इस लिए इनके पास मयूरपंख से निर्मित एक पिच्छसमूह (पिच्छि, पिच्छस्तबक) होता है। मयूरपिच्छि के लोम स्वभावतः कोमल होते हैं और यदि किसी स्थान पर बैठते समय उनसे भूमिशोधन, आसन-वेदीसम्मार्जन किया जाए तो दृश्य-अदृश्य रूप में वहां वर्तमान किसी जीव की हिंसा होने की सम्भावना नहीं रहती। जिस प्रकार व्याघ्री अपने पुत्रों को मुख में लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है किन्तु दंष्ट्राओं से पीडित नहीं करती उसी प्रकार मयूर के मृदुल-पंखों से शोधन करने पर जीव उस स्थान से हटा दिये तो जाते हैं किन्तु उनका वध अथ च अहित नहीं होता। एक अहिंसक और महाव्रतधारी के लिए प्रकृतिप्रदत्त इस प्रकार के उपादान का ग्रहण अहिंसा में साधक ही है, बाधक नहीं। यदि मुनि के पास कोई वस्त्र होता तो आगमशास्त्र कदाचित् उसे मयूरपिच्छि रखने की अनुमति नहीं देते किन्तु नग्न-निरीह साधु को किसी प्रकार का पाणि-पाद-स्पर्श-आघात-आलेखनजन्य दोष न लगे इसी उदार-भावना से पिच्छि रखने का विधान किया गया। तत्वार्थश्लोकवार्तिक ७।१५ का निर्देश है कि—

प्रमत्तयोगतो यत् स्यादवत्तादानमात्मनः ।
स्तेयं तत् सूत्रितं दानादानयोग्यार्थगोचरम् ॥
तेन सामान्यतो दत्तमाददानस्य सन्मुनेः ।
सरिन्निर्झरणाद्यम्भः शुष्कगोमयखण्डकम् ॥
भस्मादि वा स्वयं मुक्तं पिच्छालाबुफलादिकम् ।
प्रासुकं न भवेत् स्तेयं प्रमत्तत्वस्य हानितः ॥

अर्थात् 'अदत्तादानं स्तेयम्' किसी के द्वारा दिये बिना किसी वस्तु को यों ही ग्रहण कर लेना चौर्य कहलाता है यह सामान्य नियम है। चाहे संसारी व्यक्ति हो अथवा वीतराग मुनि, अदत्तादान सभी के लिए निषिद्ध है। तब पिच्छि और कमण्डलु के लिए मुनि क्या करें? याचना करना वर्जित है। साथ ही शास्त्र द्वारा शौच संयम के लिए इनका रखना आवश्यक है। इसी प्रकरण को स्पष्ट करते हुए तत्वार्थश्लोकवार्तिककार ने कहा है कि दिगम्बर मुनि को धर्मपालन के लिए शास्त्रादेश के अनुपालन में सरिताओं, निर्झरों का जल, शुष्क गोमय खण्ड (उपले) अथवा उनकी भस्म आदि (आदि शब्द से मिट्टी ग्रहण करना) तथा स्वयंमुक्त मयूरपिच्छ, स्वयं वृन्तच्युत तुम्बीफल आदि (आदि शब्द से कमण्डलु-समान-व्यवहरणीय सामुद्रिक नारियल आदि ग्रहण करना अभीष्ट है।) ग्रहण करना स्तेय नहीं है।

पिच्छ शब्द केवल मयूर पंख का वाचक है। अमरकोषकार ने लिखा है 'पिच्छबर्हे नपुंसके' पिच्छ और बर्ह मयूरपंख वाचक हैं और नपुंसक लिंग हैं।

पिच्छि में मयूरपिच्छि को ही इतना सम्मान क्यों दिया? इस शंका का समाधान यह है कि मयूर भारत का राष्ट्रीय पक्षी है और ग्राम्यपक्षी अथवा वन-पक्षी के रूप में यहां सर्वत्र पाया जाता है। यह पवित्र पक्षी है और प्रकृति की कलाकुशलता का एक दर्शनीय आदर्श (नमूना) है। उसी के पंख ऐसे हैं जो अत्यन्त सुकोमल हैं, दोष-निरोधक हैं, तथा कार्तिक के मास में अपने आप झड़ जाते हैं। अपने आप झड़-कर भूमि पर पड़े हुए इन पंखों को लेने में मुनि को अदत्तादान से उत्पन्न होने वाला स्तेय-दोष नहीं लगता और विपुल मात्रा में उपलब्ध होने से इनकी प्राप्ति में अन्तराय नहीं आता। ये सदा, प्रतिवर्ष नियत समय पर बिना किसी हिंसा के, वृक्षों के स्वयं पतित पत्तों के समान, मिल जाते हैं। इसका यह आशय नहीं कि प्रकृति द्वारा जो स्वयं दत्त वस्तुएं हैं उन्हें धारण करना मुनि का कर्तव्य है। यदि ऐसा अर्थ लें तो फल-पुष्प, वृक्षत्वचा और अनेक अन्य वस्तुएं ऐसी बड़ी संख्या में सूचीबद्ध की जा सकती हैं जो अपने आप भूमि पर खिरती हैं और नदी-निर्झर के जल के समान जिन्हें लेने में 'अदत्तादान स्तेय' नहीं लगता। किन्तु केवल मयूर-पिच्छ ग्रहण करने का विधान तो मुनिचर्या के अहिंसक पक्ष को निराबाध करने के लिए आवश्यक है। भद्रबाहु क्रियासार में लिखा है—

ठाणणिसिज्जागमणे जीवाणं हंति अप्पणो देहं।
दसकत्त रिठाण गदं णिप्पिच्छे णत्थि णिव्वाणं ॥ २५ ॥

(जो मुनि अपने पास पिच्छि नहीं रखता है वह कायोत्सर्ग के समय बैठने में, आने-जाने में अपने देह की क्रिया से जीवों का नाश करता है। ऐसा करने के परिणाम स्वरूप उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।)

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रकृतिप्रदत्त वस्तुओं को ग्रहण करना मुनि के लिए आवश्यक नहीं है। उसके लिए तो पिच्छि रखना उसकी ही आत्मसाधना और अहिंसा-वृत्ति के पालन में नितरां सहायक होने से अनिवार्य है। अतः न केवल यह संयम का उपकरण है-अपितु मोक्षपथ पर अग्रसर होने वाले मुनि के लिए सहायक भी है।

दिगम्बर मुनि के लिए दूसरा उपकरण है कुण्डी या कमण्डलु। तूम्बे का बना हुआ कमण्डलु शुद्धि के लिए जलपात्र के रूप में रखना मुनि के लिए पिच्छि के समान ही आवश्यक है। मराठी के कवि जनार्दन ने लिखा है कि—

करोनी परिग्रह त्याग, तीन राखावे काये संग
पुस्तक पीछी ठेवी अभंग कमण्डल भृंग शौचासी॥ १२०

अर्थात् सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग करके मुनि को पुस्तक, पिच्छि और कमण्डलु तीन उपकरण रखने चाहिए।

पिच्छि और कमण्डलु धारण करने का एक और हेतु भी है। वह यह कि इस संसार में अनेक मनुष्य प्रमत्तयोग से (पागल अवस्था में) अपने सभी वस्त्रों का त्याग कर नग्न विचरते देखे जाते हैं। बहुत-सी आदिवासी और जंगली जातियों में नग्न और अर्धनग्न रहने की प्रथा है। आजकल तो यूरोप, अमरीका में भी आधुनिकतम सभ्य नागरिक और महिलाएं क्लबों में जाते हैं और 'सन् बाथ' (सूर्य स्नान) करते हैं। उस समय वे सर्वथा नग्न होकर खेलते कूदते हैं तथा स्नान करते हैं और धूप में बैठते हैं। यदि दिगम्बर मुनि-वेष में किसी प्रकार का विशेष लिंग (चिह्न) नहीं हो तो उसे पहचानने में बड़ी असुविधा हो जाती है। मुनि और सामान्य जनों के नग्नत्व में मूल अन्तर है। मुनि संसार छोड़कर व्रतपूर्वक दिगम्बरत्व की दीक्षा लेते हैं और विषय कषाय से नितान्त वर्जित होते हैं जब कि अन्य लोग केवल धूपस्नान के निमित्त अथवा प्रमादी होने से ऐसा करते हैं। अतः मुनि के यथाजात वेष के साथ कोई परिचय होना चाहिए ताकि उस वेष का यथोचित समादर हो सके तथा श्रावक अपने साधुपरमेष्ठी के प्रत्यक्ष स्वरूप के दर्शन कर वैयावृत्य का लाभ उठा सकें। नीतिसार में कहा गया है कि—

मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मन्यते।

अर्थात् मुद्रा (चिह्न) को सर्वत्र मान्यता प्राप्त होती है। जिसके पास मुद्रा नहीं है उसकी मान्यता नहीं होती। वैष्णव सम्प्रदाय के साधु अपनी भुजाओं पर चक्र और इसी प्रकार के वैष्णव चिह्न धारण करते हैं। राजा के भृत्य भी किसी विशेष प्रकार की 'राजमुद्रा' धारण करते हैं। बिना मुद्रा के संसार का कार्य नहीं चलता। आधुनिक 'पासपोर्ट' भी एक मुद्रा ही है जिसके बिना अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन सम्भव नहीं हो सकता। कागज का रुपया मुद्रा से ही चलता है अन्यथा उसका क्या मूल्य हो सकता है ? क्यों कि, मुद्रा का अर्थ है किसी विशेष सम्प्रदाय की मान्यता का अंकन। दिगम्बर मुनि पिच्छि और कमण्डलु से अपने वास्तविक रूप में जाना जाता है। इसी अभिप्राय से 'भद्रबाहु क्रियासार' में श्रमण के लिए पिच्छि रखना अनिवार्य लिखा है—

जो सवणो गहि पिच्छं गिण्हदि णिंदेदि मूढचारित्तो।
सो सवण-संघवज्झो अवंदणिज्जो सदा होदि॥ ७६॥

अर्थात् जो श्रमण पिच्छि को ग्रहण नहीं करता और उसकी निन्दा करता है वह 'मूढ चारित्र' है। क्योंकि चारित्र-पालन में, कायोत्सर्ग और आने-जाने में, तथा बैठने-उठने में पिच्छि के सहयोग का महत्त्व सर्वविदित है उसके बिना सम्यक्-चारित्र का पालन कठिन है। अतः ऐसा विचार रखने वाला श्रमण संघ से बहिष्कार्य है और वन्दना करने योग्य भी नहीं है।

किन्तु इसका यह आशय भी नहीं है कि मुनि पिच्छि और कमण्डलु के प्रति मोह करे। अहा ! जिस पिच्छि को अपने शरीर से अलग करते हुए स्वयं मयूर ने मोह नहीं किया, उस उत्सृष्ट पिच्छि पर मुनिजन मोह करें यह असम्भव है। वह तो क्रियासिद्धि के लिए उपादेय उपकरण है, इतना ही मुनि सोचे। न कि उसके खो जाने, नष्ट हो जाने पर आर्तध्यान, रौद्रध्यान करने लगे। 'रयणसार' में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

पिच्छे संत्थरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयारं।
यावच्च अट्टरुद्दं ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं॥१८२॥

अर्थात् मयूरपिच्छि पर तथा अन्य स्रस्तर (चटाई इत्यादि) पर जो साधु ममत्व करता है और ममत्व के कारण आर्त या रौद्र ध्यान करता है तब तक क्या वह मोक्ष सुखको पा सकता है ? नहीं।

ऐसा लिखने का शास्त्र का प्रयोजन यह है कि जिसने समस्त संसार के आधि-व्याधि-उपाधि-चक्रवाल को सर्वथा त्याग दिया है उसे कहीं पिच्छि कमण्डलु

आदि पर मोह न उत्पन्न हो जाए। तभी तो मुनि आगे आकर उपेक्षासंयम अवस्था में पिच्छि कमण्डलु को भी छोड़ देते हैं। अतः मुनिको यह ध्यान सदा रहना चाहिए कि मैं वीतराग मुद्रा का पालक हूं, मेरे अन्तराल में तुच्छ ही नहीं, किसी भी वस्तु के प्रति कोई रागात्मक सम्बन्ध न उत्पन्न हो जाए, इसी की चेतावनी देने के लिए मानो, शास्त्रों ने एक ओर जहां पिच्छि कमण्डलु रखने का विधान किया है तो दूसरी ओर उनको लेकर आर्त और रौद्रध्यान करने की निन्दा भी की है।

सकलकीर्ति धर्म प्रश्नोत्तर में पिच्छि के गुणों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

> अथ पिच्छिकागुणा रजःस्वेदाग्रहणद्वयम्।
> मार्दवं सुकुमारत्वं लघुत्वं सद्गुणा इमे॥
> पंच ज्ञेयास्तथा ज्ञेया निर्भयादिगुणोत्तमाः।
> मयूरपिच्छजातायाःपिच्छिकाया जिनोदिताः॥

(पिच्छि के गुणों का वर्णन किया जाता है: मयूरपिच्छि धूली का सम्मार्जन कर स्थान को बैठने के उपयुक्त बनाती है। स्वेद का ग्रहण नहीं करती अर्थात् स्वयं स्विन्न नहीं होती। मृदुता, सुकुमारता और हल्कापन ये इसके सद्गुण हैं। न केवल इसमें ये ही पांच गुण हैं अपि तु निर्भयता इत्यादि अन्य भी गुण इसमें वर्तमान हैं। इन गुणों का वर्णन भगवान् जिनेन्द्र ने किया है।)

नीतिसार का वचन है कि—

> पिच्छपुस्तकपट्टादीन् याचयित्वा परस्परम्।
> ग्रहणं न विवा यत्नामेष धर्मः सनातनः॥८१॥

(अर्थात् त्यागी को मयूरपिच्छि, शास्त्र, पट्ट अथवा श्रुतप्राभृत परस्पर में एक दूसरे से मांगकर लेना चाहिए। ऐसा करने से दोष नहीं लगता। यह मुनिधर्म की सनातन मर्यादा है।)

इस मयूरपिच्छि का उपयोग स्वच्छन्दता से नहीं किया जा सकता। यदि कोई मुनि पिच्छि को शीर्षोपधान (तकिया) बनाकर लगाए, उसको रजोहरणमात्र न समझकर विशेष सुख-सुविधा का उपादान समझे तो यह विहित धर्म से विरुद्ध है। इसी प्रकार हृदय या मस्तक ढंकने के काम में ले तो यह भी उचित नहीं है। ऐसा करने पर मुनि को प्रायश्चित्त कल्याणक देना चाहिए किन्तु यदि किसी रुग्णावस्था के हेतु से ऐसा कुछ किया जाता है तो दोष नहीं लगता। आशय यही

कि पिच्छि से भी स्वैरतापूर्वक काम नहीं लिया जा सकता। वह केवल निर्दिष्ट प्रयोजन संवाहिकामात्र है, संयम साधन है न कि यथेच्छ व्यवहरणीय। इसी आशय को निम्न श्लोक में व्यक्त किया गया है—

> उच्छीर्षस्य विधानेऽपि प्रतिलेखस्य हृच्छदे ।
> मस्तकावरणादेर्वा कल्याणं वा न दुष्यति ॥ प्रायश्चित्त–७५

यह मयूरपिच्छ मुनि को सदा ही धारण करना चाहिए। नीतिसार में कहा है कि—

> पिच्छेन मृदुनाऽलिख्य वपुर्धर्माद् विशेन् मुनिः ।
> छायां तथैव धर्मे च भूमिभेदेऽपि चान्वहम् ॥४३॥

अर्थात् छाया में, आतप में अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने में प्रतिसमय मयूरपिच्छि से आलेखन करके ही वर्तना चाहिए।

सनातन काल से मुनि पिच्छिधारण करते आये हैं। हिन्दुओं के पद्मपुराण के तेरहवें अध्याय में तथा विष्णुपुराण में एवं शिवपुराण में पिच्छि का निरूपण दिगम्बर साधु के लिए किया गया है। क्रमशः उदाहरण हैं—

> 'योगी दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विजः' (पद्म.)
> 'ततो दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विजः' (विष्णु.)
> 'मयूरचन्द्रिकापुञ्जपिच्छिकां धारयन् करे' (शिवपु.)

शिवपुराण में एक कथा आई है कि शिव ने दिगम्बरमुद्रा धारण कर देवदारु वन के आश्रम का निरीक्षण किया था। उस समय उनके हाथ में मयूर पंख की पिच्छि थी। इससे भी यह सिद्ध हो जाता है कि 'पिच्छि' रखने की परम्परा अतिप्राचीन है।

पिच्छि कमण्डलु धारण करना मुनि का संयमोपकरण प्रयोजनीय है। इससे ही मात्र अपने को मोक्ष का अधिकारी मान लेना उचित नहीं। सरहपाद में लिखा है—

> 'पिच्छिग्गहणे दिट्ठि मोक्ख ता मोरह चमरह ।
> उञ्छ भोअणे होई जाणं ता करिह तुरंगह ॥'

अर्थात् यदि पिच्छिग्रहण करने मात्र से मुक्ति की प्राप्ति होती तो इसका प्रथम अधिकारी मोर ही होना चाहिए और यदि उञ्छ भोजन से मुक्ति मिलती

तो पशुओं को, जो वन में इधर उधर नाना वृक्षों की पत्रावली खाकर अपनी जीवन वृत्ति चलाते हैं, उनको मोक्ष पहले मिलती। इसका आशय यही है कि सम्यक् चारित्र-पालन से ही मुक्ति मिलती है। पिच्छि और कमण्डलु उसी में सहायक हैं।'

पिच्छि और कमण्डलु–दोनों उपकरणों को एक साथ वामहस्त में धारण कर मौन भाव से जब मुनि निकलते हैं तब श्रावक उन्हें आहार के लिए निकला जानकर पड़गाते हैं—प्रतिग्रहण करते हैं। मुनि जिसके यहां आहार ग्रहण करना उचित समझते हैं वहां अपने दक्षिण हस्त की पांचों अंगुलियों को मिलाकर दाहिने कन्धे पर रखते हैं यह उनकी ओर से आहार करने का चिह्न होता है। धर्म रसिक ग्रन्थ में लिखा है कि—

पिच्छं कमण्डलुं वामहस्ते, स्कन्धे तु दक्षिणम्।
हस्तं निधाय संदृष्टया स व्रजेत् श्रावकालयम् ॥७०॥

अपने आचार्य की वन्दना करते समय पिच्छि को मस्तक से छुआकर पश्वर्धशय्या से 'मै वन्दना करता हूँ' ऐसा कहते हुए नमस्कार करना चाहिए।

'पश्वर्धशय्यया आनम्य सपिच्छाञ्जलिभालकः'।
—आचारसार. ६१,

इससे आगे की कारिका में 'आचारसार' का वचन है कि—

विगौरवादिदोषेण सपिच्छाञ्जलिशालिना।
सदञ्जसयाचार्येण कर्तव्यं प्रतिवन्दनम् ॥

अर्थात् जब मुनिराज आचार्य महाराज का वन्दन करें तब आचार्य को भी अपने हाथ में पिच्छि लेकर मुनि का प्रतिवन्दन करना चाहिए।

एतावता सिद्ध है कि पिच्छि न केवल शौचसंयमोपकरण मात्र है अपितु मुनिचर्या के व्यवहार शास्त्र का अंग भी है।

मयूरपिच्छ निर्वाण भूमि पर पहुंचने के लिए समर्थ पंखों के समान है, मार्ग में आने वाले कीट-पतंगों को दूर करने के लिए मृदुल-अनघ सम्मार्जनी के समान है, स्वयंपतित और पवित्र, कोमल ये मयूरपंख मुनियों की राष्ट्रीयता के द्योतक हैं। मुनियों को शोभा दे ऐसा पवित्र संयमोपकरण है। जैसे भारत का राष्ट्रीय पक्षी 'मयूर' है उसी प्रकार मयूर पिच्छ से लाञ्छित भारत का राष्ट्रीय धर्म 'अहिंसा' है। जिसके प्रतीक हैं दिगम्बर जैन मुनि। जिनके दर्शन मात्र से

जन्म-जन्म के पाप गलित होते हैं और पवित्र मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा मिलती है।

पिच्छि और कमण्डलु दिगम्बर मुनि के अतिप्राचीन संयमोपकरण हैं। जैसा कि नियमसार में श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है—

पुस्तककमण्डलादिग्रहणविसर्गयोः प्रयत्नपरिणामः।
आदाननिक्षेपणसमितिर्भवतीति निर्दिष्टा ॥ ६४ ॥ (छाया)

अर्थात् अपहृतसंयमधारी मुनियों को आगम अर्थ के प्रत्यभिज्ञान के लिए बार बार शास्त्र (पुस्तक) की—ज्ञानोपकरण की आवश्यकता होती है, विशुद्धि के लिए शौच उपकरण कमण्डलु की और संयमोपकरण के लिए पिच्छि की आवश्यकता होती है। इन ज्ञानोपकरण, शौचोपकरण और संयमोपकरण ग्रहण में तथा विसर्ग में जो प्रयत्न-परिणाम होता है, उसकी संज्ञा आदानसमिति और निक्षेपणसमिति है।

'रयणसार' में कुन्दकुन्द आचार्य का वचन है कि पिच्छि में, संस्तर में (पुआल इत्यादि में) जो मुनि इच्छा अथवा लोभ से ममत्व भावना करता है और जब तक उसमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान वर्तमान है तब तक क्या वह मोक्षसुख से वंचित नहीं रहता! अवश्य वंचित रहता है।

'रयणसार' और 'नियमसार' अति प्रामाणिक और प्राचीन ग्रन्थ हैं। साथ ही आचार्य कुन्दकुन्द के स्वलिखित होने से सर्वमान्य हैं। 'नियमसार' में आदान-निक्षेपण-समिति निरूपण में तथा 'रयणसार' में पिच्छि तथा संस्तर के प्रति आर्त-रौद्रध्यान मूलक ममत्व भावना के निरूपण प्रकरण में आचार्य ने कमण्डलु और पिच्छि-धारण का उल्लेख किया है। इससे असंदिग्ध रूप से यह सिद्ध हो जाता है कि मुनि के विधिसम्मत दिगम्बर वेष के लिए 'पिच्छि और कमण्डलु' धारण अतिप्राचीन है।

भावसंग्रह के २७६ वें श्लोक का आशय है कि मुनि महाराज अवधिज्ञान प्राप्ति के पूर्वतक स्वयंपतित मयूरपिच्छि को प्रतिलेखन-शुद्धि के लिए धारण करते हैं। श्लोक इस प्रकार है—

'अवधेः प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छं यथागतम्
यत स्वयं पतितं भूमौ प्रतिलेखनशुद्धये ॥'

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य के 'षट्प्राभृत' के 'भावप्राभृत' प्रकरण की ७६ वीं गाथा के चतुर्थचरण 'जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं' की टीका इस प्रकार की गई है—

'जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं' जिनलिंगं नग्नरूपमर्हन्मुद्रामयूरपिच्छकमण्डलु-सहितं निर्मलं कथ्यते। तद्द्वयरहितलिंगं कश्मलमित्युच्यते तीर्थंकरपरमदेवान्सप्तर्द्धि-विना अवधिज्ञानादृते चेत्यर्थः।'

अर्थात् मयूरपिच्छि व कमण्डलुसहित नग्नरूप ही अर्हन्त भगवान् की मुद्रा है और वह निर्दोष तथा निर्मल है। जो इन दोनों से रहित नग्नरूप है वह मलिन कहा जाता है। किन्तु तीर्थंकर परमदेव, सप्तर्द्धिधारक तथा अवधिज्ञानी को पिच्छिकमण्डलु धारण आवश्यक नहीं है। वे पिच्छिकमण्डलुरहित भी अर्हत मुद्राधारक हैं।

पिच्छि और कमण्डलु भावलिंगी के हाथों में शोभा पाते हैं, द्रव्यलिंगी तो इनकी शोभा को हत कर देता है। रत्न सुवर्णखचित ही शोभादायक होता है अपु में आरोपित करने से वह प्रभाहीन हो जाता है। अपेक्षासंयमी को इनकी आवश्यकता है उपेक्षासंयमी नहीं।

कुछ शंकालु मयूरपिच्छ को मयूर का परित्यक्त अंग होने से अशुचि मानते हैं किन्तु ऐसा मानना युक्ति और प्रमाण से बाधित है। श्रीचामुण्डरायविरचित 'चारित्रसार' की मान्यता है कि—'शरीरजा अपि मयूरपिच्छसर्पमणिशुक्तिमुक्ता-फलादयो लोके शुचित्वमुपागताः।' मयूरपिच्छ, सर्पमणि और सीप से उत्पन्न मोती आदि शरीर से उत्पन्न होते हुए भी लोकव्यवहार में पवित्र मान लिये गये हैं। अतः प्रतिलेखनशुद्धि के लिए पिच्छि को रखना शास्त्रसम्मत और लोकसम्मत है।

कमण्डलु को सम्मूर्च्छन जीवों के निराकरणार्थ पन्द्रह पन्द्रह दिनों में प्रक्षालित कर (बाहर भीतर से धोकर) स्वच्छ करते रहना चाहिए। यदि एक पक्ष के पश्चात् भी उसको अन्तःशुद्ध न किया जाए तो प्रतिक्रमण तथा उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए। प्रायश्चित्तसमुच्चय में लिखा है—

'शश्वद् विशोधयेत् साधुः पक्षे २ कमण्डलुम्।
तदशोधयतो देयं सोपस्थानोपवासनम्॥'

शौच-संयम के उपकरण कमण्डलु पिच्छि से अतिरिक्त ज्ञानोपकरण के रूप में शास्त्र रखने की सुविधा त्यागियों को प्राप्त है। शास्त्र के साथ उसके

अनुकूल लेखनी और मषी तथा पत्र भी त्यागी रखते हैं । शास्त्ररूप में ज्ञानोपकरण रखना साधु के लिए आवश्यक है क्यों कि वह आगम से ही चक्षुष्मान् है । 'आगमचक्खू साहू' और 'अज्झयणमेव झाणं' आचार्य कुन्दकुन्द के वचन हैं । 'मूलाराधना' का १५३ वां श्लोक है—

'कर्तव्या यत्नतः शिक्षा प्राणैःकण्ठगतैरपि ।
आगमार्थसमाचारप्रभृतीनां तपस्विना ॥'

प्राण यदि कण्ठगत हों तो भी तपस्वी को आगमस्वाध्याय प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए । इस प्रकार शौच, संयम और ज्ञान के उपकरणों से शुचि, संयत और ज्ञानसम्पन्न होकर चारित्रमार्ग में प्रवृत्त रहना मुनित्व के लिए आवश्यक है ।

ग्यारहवीं प्रतिमा में गया हुआ खण्डवस्त्र और लंगोटीधारी तथा केवल लंगोटीधारी ऐलक संज्ञा से अभिहित किया जाता है, उन्हें पिच्छि धारण करना आवश्यक है । यदि बिना पिच्छि के सात पद गमन करे तो मुनि को कायोत्सर्ग से शुद्धि करना और दो कोस मार्ग बिना पिच्छि गमन करे तो शुद्धि और एक उपवास अनिवार्य है । जीवमात्र के प्रति दया करने की प्रतिज्ञा का पालन पिच्छि से किया जाता है । पिच्छि से मुनि की त्यागमय प्रवृत्ति का बोध होता है । मयूरपंख इतने मृदुल होते हैं कि नेत्रों में फिराने पर भी उनमें पीडा नहीं करते । 'मयूरपिच्छं मृदु पंचरंगं मिथ्यात्वनाशं मदसिंहराजम्' यह मयूरपिच्छ मृदु है, पांच रंग वाला है, मिथ्यात्व नाशक है तथा मदरूपी गज के लिए सिंहराज है । इस विषय में उपर्युक्त आशय को निरूपित करने वाले कतिपय श्लोक हैं—

'धम्मिल्लाणं चयणं करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो ।
ठाणाइसु पडिलेहइ उवयरणेण पयडप्पा ॥
एमेव होइ बिइयो णवरि विसेसो कुणिज्ज णियमेण ।
लोचं धरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्मि ॥

—वसुनन्दिश्रावकाचार ३०२।३११

सप्तपादेषु निःपिच्छः कायोत्सर्गेण शुद्ध्यति ।
गव्यूतिगमने शुद्धिमुपवासं समश्नुते ॥

—चारित्रसार ४४

पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिह्णं च होइ सगपक्खे ।
विस्सासियं च लिंगं संजदपडि रूवदा चेव ॥

—भगवती आराधना ६

ण य होदि सावयपीवा पिच्छि अप्पाविदे सुपविलेहे।
तो सुमुमाइदि अडुओ पविलेहो होदि कायब्वो ॥

—वट्टकेर मूलचार ९१२

इत्यादि उद्धरणों से स्पष्ट है कि पिच्छिधारण मुनियों के लिए आवश्यक है। पिच्छि संयमोपकरण है, जीवदया के लिए सहयोगी है, मुनिमुद्रा है, सुलभ और निर्दोष है तथापि यही साध्यसाधन की अद्वितीय सहचरी नहीं है। मुख्य तो मुनि का सम्यक्त्व है जो रागादि दोषों को दूर कर समताभाव को उत्पन्न करता है। 'ढाडगाथा' में लिखा है—

पिच्छेण हु सम्मत्तं करगहिए चमरमोरडंबर ए।
समभावे जिण दिट्ठं रायाई दोसचत्तेण ॥२८॥

हाथ में वनगाय की पिच्छि अथवा मयूरपंखनिर्मित पिच्छि ग्रहण करने मात्र से कोई सम्यक्त्वी नहीं बन सकता। यदि पिच्छि लेकर भी त्यागभाव का उदय नहीं हुआ तो पिच्छि, कमण्डलु, पुस्तकें और चेला-चेली का परिकर 'परिग्रह' ही माना जाएगा। जिस प्रकार अन्न बेचने से रुपया और रुपया देने से अन्न प्राप्ति होती है और वह अन्न रुपया है तथा रुपया अन्न है, वैसे ही पिच्छि, कमण्डलु तथा चेला-चेली रूपान्तरित हुए परिग्रह ही हैं। राग की स्थिति तो पूर्ववत् है केवल उस के आस्थान मात्र बदल गये हैं। जैसे कोई संसारी वस्त्र में राग करे वैसे वह मुनि पिच्छि में राग करने से रागानुबन्ध में संसारी के समान ही है। राग के केन्द्र मात्र अलग २ हैं। 'मूर्च्छा परिग्रहः' मोह अथवा आसक्ति परिग्रह कहा जाता है। जहां जहां रागपरिग्रह का निवेश प्रतीत हो, वहां वहां से तत्क्षण अपने को विविक्त करना त्यागी का प्रथम कर्तव्य है। 'परमात्मप्रकाश' ने इसी आशंका से मुनियों को सावधान करते हुए लिखा है—

'चेल्ला चेल्ली पुत्थियहिं तूसइ मूढ णिभंतु।
एयहिं लज्जइ णाणियउ बंधहं हेउमुणंतु ॥
चट्टहिं पट्टहिं कुंडियहिं चेल्लाचेल्लियएहिं।
मोह जणेविणु मुणिवरहं उप्पहि पाडियतेहिं ॥ ८८-८९

अज्ञानी ही चेला, चेली और पुस्तकों से हर्षित होता है' जो ज्ञानी है वह तो इन से शरमाता है और इन सबों को राग तथा बन्ध का कारण मानता है। ये पिच्छि, कमंडलु और मुनि, श्रावक रूप शिष्य वर्ग तथा अर्जिका और श्राविकादि

मिथ्याएं मोहनीय कर्म का उदय कराकर त्यागी को खोटे मार्ग में डाल दे सकते हैं। वीतराग भगवान् की मुद्रा धारण करने वाले सर्वथा निष्परिग्रही को इन पर-द्रव्यों के अकिंचनत्व को जानकर आत्मध्यान में लीन रहना श्रेयस्कर है। परिग्रहों के बन्धन तो गृहस्थों को ही बहुत हैं यदि वे ही बन्धन उपादान बदल कर मुनिचर्या में भी विस्तार करते गये तो निःसंगत्व के अनवद्य दर्शन कहां मिलेंगे। सिकन्दर ने जब एक वीतराग मुनि के विषय में सुना तो वह स्वयं पदाति उपस्थित हुआ और आग्रहपूर्ण शब्दावली में अनुनय करने लगा कि मुनि महाराज उसके योग्य कोई सेवा बताने की कृपा करें। वीतराग मुनि ने कहा कि बाहरी भौतिक प्रदेशों के विजय अभियान छोड़कर आत्मविजय करो। युद्धोन्माद में प्राणिहिंसा कर पापबन्ध करना योग्य नहीं, अहिंसक रह कर धर्माचरण करो। वही तुम्हारी सेवा है। और आज? त्यागियों के दरबार में भी श्रावकों के धनिकत्व को आंका जाने लगा है। उनके समभावी स्वभाव को परखने वाले 'रत्नत्रय' की आंख लगाये हुए हैं। अतः 'यद्यपि विमलो योगी छिद्रान् पश्यति मेदिनी' यह वाक्य सदैव मानस चक्षुओं के समक्ष रखना चाहिए। तथा जिस महाव्रत के लिए पिच्छि और कमण्डलु लिये, विश्व भर के माया-मोह का विसर्जन किया, मुनि जैसे सर्वोत्कृष्ट चारित्र समवायी पद को अधिगत किया, उसी की साधना में लीन रहकर आत्मकल्याण करना चाहिए।

यत्र स्याद्वादसिद्धान्तो यत्र वीरो दिगम्बरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानन्दो ध्रुवादरः॥



शब्द श्रौर भाषा

शब्द और भाषा

यह सारा विश्व वाङ्मयव्यापार से परिचालित है अत एव भाषा अथवा भाषाओं का महत्त्व अपने आप में अत्यन्त मूल्यवान् है। किसी कवि ने कहा है 'निजभाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल'। वास्तव में महाजातियों की उर्जस्वी गाथाओं के महाकोष भाषाओं के माध्यम से ही रचे गये हैं।

सर्वप्रथम भाषा का उद्गम कहां हुआ, कैसे हुआ? इसके विषय में निश्चय बुद्धि से नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह संसार और मानव जाति जैसे अनादि-निधन हैं वैसे ही भाषा भी मानव की जन्मसहोदर और अनादिनिधन है किन्तु भाषाविज्ञान के भारतीय और यूरोपीय विद्वानों ने यह निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया है कि 'ऋग्वेद' सर्व प्राचीन उपलब्ध पुस्तक है और एतावता उसकी भाषा प्राचीनतम है। भाषाओं का अध्ययन इस बात का साक्ष्य उपस्थित करता है कि किसी समय विश्व में एक ही भाषा थी जो मानव जगत् के विकास के साथ पृथ्वी के अनेक भागों में बसते हुए मानवों के साथ बिखर गई और कालान्तर में उसका अपना स्थानीय स्वतंत्र विकास होता गया। ऐसा विचारने के लिए भाषाओं के माध्यम में पायी जाने वाली कई एक समताएं कारण हैं। अनेक शब्द प्रमाण हैं। उदाहरण के लिए भारत और यूरोप देशों में सात ही वार हैं। अंक नौ ही हैं। गणनाएं एकसार हैं। शब्द देशकाल की सीमाओं को छूकर भी अपने मूल में किसी एक ही तत्सम का आग्रह करते दिखाई देते हैं। विभिन्न देशों की शब्दावली में समय ने जो भेद उपस्थित कर दिया है उसके उपरान्त भी उनकी सहोदर आकृति स्पष्ट पहचानी जा सकती है।

इस प्रकार मानवजाति की किसी अति प्राचीन समय की भाषा स्थान और कालभेद से अनेक भाषाओं के रूप में विकास को प्राप्त हुई। भारत में ही प्रान्तीय भाषाएं संस्कृतनिष्ठ होने पर भी अपने स्वतन्त्र रूप में विकसित हुई हैं। प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, पैशाची, शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी और तमिल, तेलगू, कन्नड, मराठी, बंगाली, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी आदि अनेक नामों से भाषाओं का विकास और विस्तार हुआ है। इन सभी भाषाओं में विशाल साहित्य की सृष्टि स्वतन्त्रता से हुई है और विविध साहित्य ने इन भाषाओं को विराट

विकास दिया है । साहित्य भाषाओं से और भाषाएं साहित्य से परस्पर उपकृत हुए हैं ।

भारतीय साहित्य वैदिक, बौद्ध और जैन तीन धाराओं में मुख्य रूप से बंटा हुआ है । इनमें वैदिकों का सभी साहित्य संस्कृत में और बौद्धों का पाली में लिखा गया है । किन्तु नित्य यायावर जैन मुनियों की परम्परा का साहित्य संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड, तुलु, मराठी, हिन्दी, गुजराती आदि विविध भाषाओं में समभाव से उल्लिखित हुआ है । इसका रहस्य बहुत ही स्पृहणीय है । जैनमुनि निरन्तर विहार करते रहते हैं और इस दशा में उन्हें अनेक प्रान्तों में देश के विविध भागों में संचार करना होता है । यह क्रम पूर्व में भी था, आज भी है और आगे भी रहेगा । जैनमुनियों की इस घुमक्कड़ परम्परा में धर्म प्रभावना के लिए सुगम रूप से उन-उन प्रान्तों की अपनी भाषाएं ही सफल सिद्ध हो सकती थीं और जनसामान्य भी उसी भाषा में सरलता से समझ सकता था, अतः जैन संस्कृति के उदार सन्तों को यदि स्थानीय भाषाओं में धर्म प्रबोध करना पसन्द आया तो इसे युक्तिसंगत के साथ मानवीय कृपालुता का पक्षपात भी कह सकते हैं ।

जैन मुनियों का मुख्य उद्देश्य धर्मबोध कराना है । इसके लिए चिरकाल से उन्होंने प्राकृतभाषा के माध्यम से अपना सन्देश दिया है । क्योंकि संस्कृत में और उसके अनन्तर स्थानीय भाषा में अनूदित प्रवचन करना भावप्रेषण-विधा को अनपेक्षित घुमाव देना ही तो है । जनसाधारण संस्कृत नहीं जानता और मुनियों को उनके मन-मस्तिष्क में संस्कृत नहीं, अपि तु धर्मप्रबोध करना ही अभीष्ट है तो क्यों न वे उसी भाषा में बोलें जो श्रोताओं को समझ में भी आये और आडम्बरी आटोप से बचकर सरलता से उन्हें समझाया भी जा सके । यही मूल कारण था कि जैन मुनियों, आचार्यों और लेखकों ने समय-समय पर उन लोकभाषाओं को अपने ग्रन्थों की भाषा स्वीकार किया जिन्हें अधिक से अधिक लोक जानते थे । तमिल में लिखित जीवन्धर चरित, कन्नड में रचित पंप कवि का आदि पुराण, अपभ्रंश में स्वयम्भू का पउमचरिउ, प्राकृत में धवला, जयधवला और गोम्मटसार, मराठी में जनार्दन कवि का श्रेणिकपुराण तथा अनेक आकर ग्रन्थों की रचना असन्दिग्ध रूप से जैन परम्परा के लेखकों की उदारता के साथ सभी भाषाओं से मैत्री करते हुए प्रमाणित करती है । अतः जैनमुनि के लिए अनेक भाषाओं से मैत्री रखना जितना आवश्यक है उतना ही उनका सम्यक्

परिज्ञान आवश्यक है। यदि वह भारत की विभिन्न प्रान्तीय भारतियों से परिचित नहीं है तो सुगमता से चर्या नहीं कर सकता। क्योंकि, सभी स्थानों पर लोक संस्कृत अथवा प्राकृत नहीं जानते। अतः विविध भाषाओं का बोध जहां अनेक भाषाओं में लिखे साहित्य को पढने व जानने के लिए आवश्यक है, वहां नवीन उपदेश वृत्ति की भली भांति चरितार्थता के लिए भी अपरिहार्य है।

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि'–यह प्राचीन भारतीय सूक्त साथ चलने साथ बोलने (विसंवादरहित भाषण करने) तथा समान चित्त रखने की ओर अनादिकाल से प्रेरित करता आया है। क्योंकि राष्ट्र की भावात्मक एकता की रक्षा के लिए भाषा एक महान् रक्षाप्रतीहार है। जिस प्रकार किसी साधर्मी को देख कर हृदय में आनन्द समुद्र की तरंगें उद्वेल्लित हो उठती हैं उसी प्रकार सम भाषा-भाषी को पाकर विशेषतः उस की अपनी मातृभाषा में उससे वार्तालाप कर चित्त प्रफुल्ल हो जाता है। कभी प्रवास में, जहाँ निरन्तर अन्य भाषाओं में अथवा राष्ट्रव्यापिनी किसी एक भाषा के माध्यम से वाग्व्यवहार करना पड़ता है, वहां यदि कोई मातृभाषाभाषी मिल जाता है तो उस वाणी का उच्चारण करते हुए हमारे अन्तःकरण के रसस्रोत ही निर्बन्ध फूट पड़ते हैं, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि भारती अर्थात् भाषा भावात्मक एकता का असामान्य मन्त्र है। अपनी-अपनी वंशानुक्रमलब्ध भाषा के प्रति यह सहज अनुराग प्रशंसनीय है और स्वाभाविक तो है ही। किन्तु मूढ आग्रह के वश में होकर देशी, विदेशी अथवा आनुवंशिक किसी भाषा के प्रति एकल अनुराग होना और इतर भाषाओं के प्रति अनुदार दृष्टिकोण रखना संकुचित मनोवृत्ति का ही परिचायक कहा जाएगा। किसी के पूर्वज सहस्रों वर्षों पूर्व सम्भवतः कोई अन्य भाषा बोलते थे, आज वे व्यवसायनिमित्त से यदि अपना मूल ग्राम छोड़ कर कहीं अन्यत्र बस गये हैं तो उनकी सन्तानें कोई अन्य भाषा बोलने लगी है, यह स्वाभाविक है। क्योंकि भाषा मुख्यतः सामाजिक प्राणियों के बीच में होने वाले विचारों के व्यक्तीकरण की वाहिका मात्र है। ये पुद्गल शब्द आशय और भाव प्रेषण के साधन हैं, साध्य नहीं। तब इन के किसी एक रूप से एकान्त लगाव रखना तो आत्मा के विशाल व्यक्तित्व को संकुचित करना ही कहा जाएगा। अतः सभी भाषाओं के प्रति सहिष्णुता, समता अथ च आग्रह बुद्धि रखना स्वस्थ मस्तिष्क की पहचान है। क्योंकि कालप्रवाह ने ही भाषाओं का यह रूपान्तर किया है। जिस प्रकार कुलों की पीढ़ियां चलती हैं। उसी प्रकार भाषाओं के रूपान्तर भी चलते

हैं। शब्द भी मनुष्यों के नाना परिधान (लिबास) के समान अपने को बहुरूपी करते रहते हैं। उदाहरण के लिए कुछ शब्द लीजिए—

प्राकृत	फारसी	अंग्रेजी	संस्कृत	आवेस्ता	लैटिन
पितु	पिदर	फादर	मातृ	पितर	पतेर
मातु	मादर	मदर	पितृ	मातर	मतेर
ग्रीक	तुर्की	यूनानी	फ्रेंच	जर्मन	रूस
पतेर	पातर	पटेर	लपेर	वातेर	+
मातेर	मातर	मटेर	लामेर	—	मात्य

प्राकृत	मराठी	संस्कृत	आवेस्ता	यूनानी	अंग्रेजी	लैटिन
दार	दार	द्वार	द्वार	थुरा	फोरस	फोरस
गाय	गाय	गौ	गौस	बौस	काउ	बॉस
भतार	भाऊ	भ्रातृ	भ्रातर	फ्रेटर	फ्रेटर	फ्रेटर

इत्यादि सहस्र-सहस्र शब्द प्रान्त भेद से, देश भेद से, उच्चारणभिदा से बदल गये प्रतीत होते हैं किन्तु भाषाशास्त्रीय अनुसन्धित्सुओं की दृष्टि में ये शब्द किसी एक ही परिवार के वंशधरों के समान अपनी अपरिवर्तित अर्थ सत्ता और पुत्र-पौत्रादि में संक्रमित वर्ण-आकृति के साम्य के समान ही परम्परा में चले आते हुए वयस्क रूप प्रतीत होते हैं। एक ही पीढी का यह वर्णविस्तार जिज्ञासुओं के कौतूहल और उत्कण्ठा को तथा प्रयोक्ताओं की अविरोधिता को समाहित कर सके, इसमें क्या आश्चर्य है? क्योंकि, भाषा विज्ञान के अनुसार शब्द जन्मते हैं, बढते हैं और घिसते हैं, बदल जाते हैं। सहस्रों शब्दों तथा वर्णों का साक्ष्य इसके लिए उपस्थित किया जा सकता है। ये शब्द बहुत दीर्घजीवी होते हैं। कभी कभी अपने अर्थ से विपरीत भी अर्थ बोध करने लगते हैं। 'साहस' शब्द आज प्रशंसनीय उद्यम के लिए प्रयुक्त होता है। किन्तु किसी समय इसका अर्थ डकैतों की वृत्ति का बोध कराता था। सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। सम्भवतः इसी से चिढ़कर वैदिकों ने अशोक के विशेषण विरुद पद 'देवानां प्रिय' का अर्थ 'मूर्ख' कर दिया। पाणिनीय व्याकरण का बोध कराने वाली पुस्तक 'सिद्धान्तकौमुदी' में 'षष्ठ्या चानादरे' सूत्र का उदाहरण 'देवानाम्प्रिय' देते हुए उस का अर्थ 'मूर्ख' लिखा है। वस्तुतः तो देवानाम्

और प्रिय दोनों शब्दों में किसी की अर्थनिष्पत्ति 'मूर्ख' में नहीं की जा सकती। भाषा वास्तव में लोक जीवन के साथ घुल मिलकर टकसाली भी हो जाती है और मुहाविरेदार भी। तब शब्द अपने अर्थ को भूल कर कुछ लाक्षणिक संकेतात्मक हो उठते हैं। उदाहरण के लिए किसी के परस्पर बैर को सूचित करने के लिए कहा जाता है 'इन दोनों में 'अहिनकुलम्' है' अर्थात् जिस प्रकार नेवले और सर्प में सहजात बैर है, वैसा यहां है। महात्मा तुलसीदास ने लिखा है—'राम चरण छह तीन रहु दुनिया से छत्तीस' अर्थात् राम की भक्ति करो तो '६३' अंकों के समान, सदा एक दूसरे के आमने सामने। और दुनिया से मुख मोड़ो तो '३६' के अंकों के तुल्य नित्य विमुख। एक पूर्व को तो दूसरा पश्चिमाभिमुख। यहां तिरेसठ (६३) का अर्थ भक्ति और (३६) छत्तीस का आशय विराग या विमुखता लिया गया है वास्तव में तिरेसठ और छत्तीस के ये अर्थ नहीं होते किन्तु जैसा कि कहा है, भाषा की प्रवाहमयी शक्ति लोक-जीवन के अनुबन्ध से, लिपियों के चेहरे में कुछ इस प्रकार बदल जाती है कि शब्दार्थ की प्रतीति में भेद आ जाता है। 'ब्राह्मणश्रमण' न्याय का अर्थ है परस्पर में विरोध। शब्द कभी रूढ को कभी यौगिक और कभी योगरूढ को ग्रहण करते हैं। कितने शब्द अनुकरण के आधार पर बनते हैं। सीत्कार, हिंकार, चुचुत्कार इत्यादि अनुकरण पर बने शब्द हैं। साहित्य में शब्दों की अर्थसृष्टि का अद्भुत विकास हुआ है। वहां निषेध वाचक न' का स्वीकार अर्थ और स्वीकार वाचक का निषेधार्थ दोनों सम्भव हैं। व्यंग्योक्ति, काकुध्वनि, श्लेष, वक्रोक्ति, व्याज-स्तुति इत्यादि उसके प्रकरण हैं। शब्द कितने प्रकार से शक्ति ग्रहण करता है, इसके लिए वैयाकरणों का एक श्लोक है—

> 'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
> वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतःसिद्धपदस्य वृद्धाः ॥'

व्याकरण से, उपमान से, कोष से, आप्तवचन से, व्यवहार से, वाक्यशेष से, विवृति से, सिद्धपदके सामीप्य से शब्द में शक्तिग्रहण होता है। इसलिए शब्द अनेक प्रकार से प्रभावित होता है ऐसा कहा जा सकता है। प्रसिद्ध है कि 'सैन्धव' शब्द द्वयर्थक है। अश्व और नमक दोनों अर्थ सैन्धव के हैं। किन्तु यदि कोई भोजन करता है और 'सैन्धव लाओ' कहता है तो वहां घोड़ा न लाकर नमक लाना ही शब्द का प्रयोजन है और यदि कोई यात्रा पर जाने को सन्नद्ध है और 'सैन्धव लाओ' कहता है तो उस समय नमक लेकर उपस्थित होना हास्यास्पद

है। 'विहार' शब्द का प्रयोग बौद्धों की चर्या के लिए होता था। कालान्तर में वही शब्द 'विलास' के अर्थ में प्रयोग किया जाने लगा। कवि जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' में लिखा 'विहरति हरिरिह सरसवसन्ते' यहां कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते हैं, ऐसे अर्थ में 'विहरति' का प्रयोग हुआ है। यौगिक रूप में भी वनविहार, नौकाविहार इत्यादि प्रयोग 'विहार' शब्द के देखने में आते हैं। वाल्मीकि-रामायण में रावण के मुख से सीता के प्रति कहा गया है 'विहरस्व यथासुखम्'। शब्द मनुष्यों के ही समान विश्वभ्रमण करते हैं। विदेश से लौटकर आनेपर उनको सहसा पहचानना कठिन हो जाता है। क्योंकि कभी कभी वे 'साहब' के लिबास में आते हैं और अपना देशीपन सर्वथा भूल जाते हैं। किन्तु पारखी की आंखों से बच निकलना उनके लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। देखिए 'निकट' शब्द को। हां! जरा 'निकट' को निकट से देखिए। विलायत यात्रा के पश्चात् लौटे तो एकदम विदेशी मुद्रा में। 'नियर' होकर। परन्तु यहां आनेपर आपका भण्डाफोड़ हो गया। क्योंकि 'निकट' शब्द में स्थित 'क-ट' की कटुध्वनि को भारतीय कवियों ने पहले ही पहचान लिया था। इसीलिए तो वे लिख गये थे कि 'निन्दक नियरे राखिये आंगन कुटी छवाय' बस, हमारे भारतीय बाबू ने अपने विदेशी माने हुए रूप को जब देशीय कविता के दर्पण में देखा तो मुंह छिपाने के लिए जगह नहीं मिली। लाचार खिसियानी मुद्रा में 'शेकहैण्ड' किया और बोले, भई! खूब मिले। तुमसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं विलायत जाकर जितना 'क्लीन शेव्ड' नहीं हो सका, उतने तो तुम पहले से ही हो। यही दशा जैण्टिलमैन बनने की धुन में विदेश पर्यटनोत्सुक निम्नलिखित शब्द बाबुओं की हुई—

डाटर (दुहितर्), होम (हर्म्य), क्वार्टर (कोटर), मैन (मनु)—पहचान लीजिए, बिल्कुल देशी हैं।

वैदिकों ने शब्द को ब्रह्म का रूप माना है और हमारे स्याद्वाद सिद्धान्त में शब्द पुद्गल (पौद्गलिक) हैं। किन्तु पौद्गलिक होकर भी ये महाप्रभावी हैं। अक्षरात्मक जितने शब्द हैं, उनमें शास्त्र लिखे हुए हैं और अनक्षरात्मक जैसे घन-गर्जन, विद्युत्स्फुरणजन्य, अस्त्रशस्त्रादि समुद्भव शब्द प्रकृति के लीलाविलास-पटपर अनादिकाल से अंकित हैं। अक्षरात्मक शब्दों के वास्तविक (सम्यक्) अवबोध से आत्मकल्याण का मार्ग मिल जाता है और जीव भवाटवी के कभी न समाप्त होने वाले चतुरशीतिलक्षयोनिशरीर चंकमण से मुक्त हो परमानन्द

अवस्था को प्राप्त हो जाता है। हम शब्दों के माध्यम से ही भगवान के ज्ञाता द्रष्टा स्वरूप को पहचान पाते हैं। इसीलिए तो इस विश्व के क्रियाकलाप को वाग्विशिष्ट जानकर इसे कथंचित् 'अथो वागेवेदं सर्वम्' कहना पड़ा। अक्षरात्मक भाषा का मानव संसार पर असीम उपकार है। प्रत्येक वर्णमाला पढ़कर शास्त्रान्त समुद्र को गाहनेवाला भाषा के इस अतिविलक्षण स्वरूप से चकित है। ज्ञान की धाराओं के विकास में भाषा और शब्दसामर्थ्य की अतीव चमत्कारितापूर्ण स्थिति है। यद्यपि शास्त्रकार, दार्शनिक, नैयायिक और वैयाकरण सभी शब्दोपजीवी हैं किन्तु कवियों ने शब्द द्वारा अपनी स्वतन्त्र सत्ता और सृष्टिकारिता का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनका डिण्डिम घोष है कि—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
स यथा चेष्टते विश्वं तथैव परिवर्तते।'

अर्थात् इस अपार काव्यरूपी संसार में कवि ही प्रजापति है। यहां कविमहोदय जैसा चाहते हैं परिवर्तन करते हैं। न केवल इतना ही अपितु सृष्टि के प्राणी तो अधिकतम शतायु हो सकते हैं किन्तु कवि की सृष्टि के शब्द तो कल्प स्थायी है। कहते हैं 'कीर्तिरक्षरसम्बद्धा आकल्पान्तं गमिष्यति' अक्षरों से संबद्ध कीर्ति तो कल्पान्त तक साथ चलती है और इस अक्षरसम्बद्ध कीर्ति का महागायक है कवि। एक रूपक है कि वैयाकरण शब्दों का पिता है और कवि अथवा साहित्यकार पति। क्योंकि व्याकरण शास्त्र शब्दों की उत्पत्ति का स्थान है तो साहित्य शास्त्र उनके प्रयोग की क्रीडाभूमि है। साहित्य रूप श्वसुराल में आकर शब्द गर्भधारण करते हैं और उनके विपुल अर्थवती अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, काकु, व्यंग्य और श्लेष चमत्कारमूलक सन्तानें होती हैं। व्याकरण की रत्नप्रसू खनि से निकलकर शब्द तार्किकों की प्रयोगशाला में तराशा जाता है, साहित्यिकों के काव्य-अंगुलीयक में शोभा पाता है और दार्शनिक-गोष्ठियों में विचार का सन्देशवाहक होकर वह सिद्धालय तक जा पहुंचता है। शब्द के लिए यह कहना उचित प्रतीत होता है कि 'बिनु पद चले, सुने बिनु काना, कर बिन कर्म करे विधि नाना'–कि यह बिना पैरों के चलता है, बिना हाथों के अनेक कर्म करता है और बिना श्रोत्र के सब कुछ सुनता है।

कुछ लोग शब्दों की उपासना करते हैं और कुछ की उपासना स्वयं शब्द करते हैं, कुछ की वाणी पर इच्छा करने पर भी शब्द नहीं आते और कुछ की

वाणी को सभी उपस्थित शब्दों को स्थान देने का अवकाश नहीं मिलता । एक व्यक्ति शब्द-शब्द के लिए, किसी सूखा (अकालग्रस्त) प्रदेश में किसान जैसे आकाश को देखता है, उसी प्रकार शब्दकोषों के पन्ने देखता रहता है तो किसी की मेधाशक्ति के लिए शब्दकोषों के कोष (समूह) अहम्पूर्विका से उपस्थित रहते हैं। किसी की वाणी में शब्दप्रवाह गंगाप्रवाह के समान उतरता चला आता है तो कोई कोई पैसे पैसे के लिए दरिद्र के समान एक शब्द को भी तरस जाता है। नाममाला, अनेकार्थ-नाममाला और अनेकार्थ निघण्टु के रचयिता धनंजय कवि के शब्दसामर्थ्य के लिए निम्न पद्य क्या कहता है, सुनिए—

'ब्रह्माणं समुपेत्य वेदनिनदव्याजात्तुषाराचल—
स्थानस्थावरमीश्वरं सुरनदीव्याजात्तथा केशवम्।
अप्यम्भोनिधिशायिनं जलनिधेर्ध्वानोपदेशादहो
फूत्कुर्वन्ति धनंजयस्य च भिया शब्दाः समुत्पीडिताः॥

(धनंजय के भय से पीडित होकर शब्द ब्रह्माजी के पास वेदों के निनाद के छल से, हिमालय पर रहने वाले महादेव को प्राप्त होकर स्वर्गंगाकी ध्वनि के मिष से एवं समुद्रशायी विष्णु के पास अम्भोनिधिगर्जना के व्याज से जाकर पुकारते हैं।)

साहित्यशास्त्रियों के मत से जब लिखने की पद्धति इतनी प्रौढ़ प्रांजल हो जाए कि धारावहिक गति से लिखे हुए अनुच्छेद में निष्कम्पता आ जाए और उसमें किसी शब्द को हटाने या नूतन निवेश करने की आवश्यकता नहीं रह जाए तब उसे सिद्धसरस्वतीक कहना चाहिए । क्योंकि 'पदनिष्कम्पता पाकः' यह काव्यसिद्धि का लक्षण है। कहते हैं—

'आवापोद्धारणे तावद् यावद् दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त ! सिद्धा सरस्वती ॥

अर्थात् यह 'पद रखूं कि वह' इस प्रकार जब तक मति दोलाविलास करती रहती है तक तब रचना सिद्ध नहीं मानी जा सकती। हां ! जब परिवर्तन के लिए किसी प्रकार का अवकाश न रहे तब उसे सरस्वती सिद्ध मानना चाहिए ।' ऐसा होने के लिए शास्त्रकार कहते हैं कि' तस्य सिद्धिः सरस्वत्यास्तन्त्रमन्त्रप्रसादतः' भगवती सरस्वती (श्रुतदेवी) के तन्त्र, मन्त्र और प्रसाद से ऐसी शक्ति अर्जित की जा सकती है। अत एव जिस समय 'रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितलोचन'

अर्थात् वांछित रस के अनुकूल शब्दार्थों को अव्याहत गति से कवि अपने सम्मुख करबद्ध उपस्थित पाता है तब उस पर भगवती की कृपा हुई है, ऐसा मानना चाहिए। वह शब्द के माध्यम से तीनों लोक में विद्यमान परोक्ष-प्रत्यक्ष सभी भावों को संजय की दृष्टि से यथास्थित रूप में व्यक्त करने का सामर्थ्य रखता है। भारतभूमि में इस प्रकार के भारतीसिद्ध कवि, लेखक, शास्त्रकार अनेक हुए हैं जिनके निबन्धों का अध्ययन कर उनकी वाक्पीयूष सरस्वती का ज्ञान होता है।

ऐसे शब्द के आराधकों ने भाषाशास्त्र को अमरता प्रदान की है, वाङ्मय प्रासाद को सँवारा है, भारती के मन्दिर में अर्चना के पुष्पोपहार अर्पित किये हैं।

ये वर्णात्मक शब्द जब मन्त्ररूप ग्रहण करते हैं तो इनमें अचिन्त्य शक्ति का समावेश हो जाता है। भारतीय मन्त्रशास्त्र शब्दात्मक हैं। विश्व का महामन्त्र 'णमोकार' अनादिकाल से श्रद्धालुओं के अतीन्द्रिय बोध को सर्वज्ञ के चरणों में समाहित किये हुए हैं। बीजमन्त्र अनेक नाम से, अनेक स्वरूपों में अपना कृपाप्रसाद अनुष्ठाताओं को देते आये हैं, दे रहे हैं और श्रद्धा भक्ति के कल्प तक देते रहेंगे।

विज्ञान की सहायता से आज शब्द और भाषा की शक्ति पूर्वापेक्षया अधिक समृद्ध हुई है। आज शब्द डाक विभाग की कृपा से देशविदेश का पर्यटन ही नहीं करते, वांछित सन्देश भी पहुँचाते हैं। 'तार' से उड़ते हैं। टेलीविजन पर साकार होते हैं. टेलीफोन पर सुन पड़ते हैं। संगीत के तारों पर शब्द ही झनकारते हैं। अनक्षर रूप में 'तोप' की गर्जना करते हैं जिसे सुन कर कायरों के हृदय कम्पित हो उठते हैं। गर्भिणियों को स्राव हो जाता है। यह शब्द की शक्ति है।

नदी का जल तृषाशामक है। वह जल गंगा का हो, यमुना का हो अथवा किसी अन्य नदी का हो, तृषाशान्त करने में समान है और तृषानिवारण ही जलपान का उद्देश्य है। भाषाएं भी भावव्यक्तीकरण का साधन हैं। लोक में वक्ता और श्रोता जिस भाषा द्वारा भावों का आदान-प्रदान कर सकें उसी के माध्यम से अपने उद्गार प्रकट करना साधु वक्ता को उचित है। भाषा की जाति संस्कृत है कि प्राकृत. यह विसंवाद अथवा आग्रह लोकपरायण वक्तृता का गुण नहीं समझा जाता। महाराष्ट्र के सन्त एकनाथ कहते हैं—'संस्कृतवाणी देवे केली, प्राकृत मात्र चोरा पासुनि झाली ?' अरे! संस्कृत तो देवभाषा? ठीक, किन्तु प्राकृत क्या चोरभाषा है? सच है, सन्त किसी भाषाविशेष के प्रति आग्रह नहीं रखते। जैसे सूर्य पृथ्वी, वन, वनस्पति सब पर अपने किरणपाणि का कृपास्पर्श

अंकित करता है उसी प्रकार सन्त सर्वाग्रह वर्जित होकर सभी भाषाओं और शब्दों को भावों के व्यक्तीकरण के लिए ग्रहण करते हैं। धर्म और ज्ञान जातिरहित अथवा सर्वजातिमय होते हैं। कहावत है—'पानी तेरा कैसा रंग, जैसा मिलावे वैसा रंग' वीतराग में 'राग' को रंग का वाचक मान सकते हैं। एतावता जिसमें कोई रंग नहीं, जो पानी के समान नीरंग है, फिर भी शीतल, अमृतमय, उपदेशप्रदान से जीवन-संकुल है, उसके मुख में विराजमान होकर शब्द भाषा के सद्वंश को चरितार्थ कर देते हैं। जल नीम के पत्तों में कटु और इक्षुकाण्ड में मधुर हो जाता है। भाषा साधु मुख में अमृतपयस्विनी बन जाती है। इससे वह लोकमानस में एकता लाने का प्रयास कर 'यत्र भवति विश्वमेकनीडम्' का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। शब्द और भाषा अपने भावप्रेषणमूलक गुण के कारण लोक-मुख में शोभा पाते हैं, पाते रहेंगे। किन्तु कुछ लोग इन को किसी एक प्रान्तीय भाषा में सीमित कर युद्धकला का मंच उपस्थित कर देते हैं। ऐसा करने वाले शब्दों के प्रति अनुरागी होकर ऐसा नहीं करते अपितु अपने को प्रदेशहितमहारथी घोषित करने के लिए शब्दों का आलम्बन लेते हैं, भाषा की कूटचाटुकारिता करते हैं। सरस्वती का अपह्नव करना तो उन्हें प्रिय है किन्तु उसका गंगा-यमुना-संगम अभीष्ट नहीं। भगवान् जिनेन्द्र के वचनामृतों को त्रिविध बताया गया है। 'त्रेधा जिनेन्द्रवचोऽमृतम्'—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पुद्गल की ये तीन मात्राएं ही उसके नित्यानित्य की अपेक्षागर्भित अभिव्यक्ति करती हैं। जो शब्द और भाषा को कूट अर्थ में न लेकर उस से सापेक्ष अर्थों का दोहन करता है, शब्द उसी को अपना हृदय अर्पण करते हैं।

शब्द भाषा का वाहक है। उसकी मूल ऊर्जा है। शब्द मंगल के जनक हैं, भगवत्स्तुतिपरक होने पर अशेष-इच्छितों के दाता हैं, समाजव्यवहार में सौमनस्य के आधायक हैं, चिन्तन के सहचर हैं, प्राणिमात्र में बन्धुत्वस्थापन करने के सन्धिपत्र हैं। आह्लाद के शिखर हैं, भावना के रत्नपीठ हैं, इच्छाओं की सम्प्रेषणविधि के सूत्रधार हैं, भाषा शक्ति के रूप में मनुष्य के पास एक ऐसी निधि है जिसकी तुलना में रत्न के सुमेरु तुच्छ है। भाषा भावों की कण्ठमणि में पिरोई हुई सुवर्णसूत्र शृंखला है। व्यष्टि रूप में शब्द और समष्टि रूप में भाषा उपासक को चिरस्थायिनी कीर्ति से मण्डित कर अनन्त सुख प्रदान करती है। भाषा के अमृतपात्र में विश्व के रसपिपासु अधर डूबे हुए हैं।

वक्तृत्वकला

वक्तृत्वकला

वाक् और वक्ता की अभिव्यक्ति उसके वक्तृत्व में निहित है। कौन क्या है ? इसका पता उसकी वाणी से चल जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों की अभिव्यक्ति चाहता है और उसके लिए शब्दों और भाषा का चयन करता है। सहस्त्रातिसहस्त्र शब्दों में से वह उन्हीं शब्दों को चुनता है, जिनके माध्यम से उसके भावों की अभिव्यक्ति हो सकती है। वे शब्द ही वक्ता के व्यक्तित्व को कह देते हैं। जैसे कमल को पंक छू भी नहीं सकता उसी प्रकार उत्तम वक्ता की जिह्वा को अपशब्द स्पर्श नहीं कर पाते। सरस, विमल जलाशय को जैसे राजहंस पक्षी घेर लेते हैं, उसी प्रकार उसकी जिह्वा-सरसी के तट पर बैठने के लिए सुसंस्कृत शब्दराशि अवतीर्ण होती रहती है। वक्ता उन शब्दविहगों के पंखों पर अपनी भावराशि को विराजमान कर श्रोताओं के देश को भेजता है। उन शब्दों में वक्ता का हृदय छिपा रहता है, उसके सामर्थ्य का संकेत मिलता है। किसी कवि ने कहा है कि—

'कुलप्रसूतस्य न पाणिपद्मं
न जारजातस्य शिरोविषाणम्।
यदा यदा मुंचति वाक्यबाणं
तदा तदा जातिकुलप्रमाणम्॥'

सत्कुल में उत्पन्न व्यक्ति की हथेली में कमल नहीं होता और अकुलीन के मस्तक पर शृंग नहीं उगता। किन्तु जब कोई वाणी बोलता है तब उसकी जाति और कुल का प्रमाण मिल जाता है।

वाणी के मूल में 'बाण' निहित है। जिस प्रकार व्याध बाण से पक्षियों की हिंसा कर देता है उसी प्रकार अपने कुल और जाति को प्रमाणित करता हुआ कोई जब हृदय को आघात पहुँचाने वाली बाणावलि (वाणी) का प्रयोग करता है तो उसका परिचय स्वतः श्रोता को मिल जाता है। किन्तु शर्करा से लिप्त के समान जो जिह्वा को ऋजु रखकर हृदय की सरलता को श्रोता के हृदय में उतारता है, सद्वंश के समान सीधे उस वक्ता के सुकुल परिचय को भी लोग स्वतः पहचान लेते हैं। क्योंकि लोक 'कसौटी' है। बड़े २ शास्त्रधुरन्धर भी लोकव्यवहार का

परिज्ञान न होने से असफल सिद्ध हो जाते हैं और जो लोकमानस शास्त्र के गम्भीरवेदी होते हैं वे अल्पश्रुत भी लोकवृत्ति के संग्रह में सफल हो जाते हैं। वक्ता को नित्य ही लोकजीवन के सम्पर्क में आना होता है। वह अपनी वाणी के रूप में सदैव लोक के मानस नेत्रों में रहता है जो मनुष्य मूक रहता है उसके विषय में आलोचना करने वाले चाहे न मिलें किन्तु जो बोलता है उसके बारे में अपनी राय कायम करने में लोग नहीं चूकते। क्योंकि मौन रहने वाला अपने व्यक्तित्व को कूर्म के समान प्रच्छन्न (निगूढ) रखता है इसलिए उसके सुन्दर या विकृत अंगों पर लोकदृष्टि नहीं जा पाती किन्तु बोलने वाला अपने अभ्यन्तर को व्यक्त करता रहता है अतः उसके विषय में अपना मत, मन्तव्य कल्पित करना सहज हो जाता है। अतः लोकशास्त्र की जानकारी आगमशास्त्रों की जानकारी के बाद नितान्त आवश्यक है। यहां यह भी स्मरणीय है कि प्रायः वक्ता का बौद्धिक धरातल श्रोताओं से ऊंचा ही होता है। यदि वक्ता श्रोताओं से अल्पज्ञ होगा तो श्रोताओं को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पायेगा। अतः वक्तृत्व की सम्पन्नता के लिए वक्ता को निरन्तर श्रुताभ्यासी और नवनवोन्मेषी होना चाहिए। केवल शास्त्रवाचन करने से भी वक्तृत्व की सिद्धि नहीं समझी जा सकती। शास्त्रों के विशिष्ट ज्ञाता भी सभामंच पर आते ही कांपने लगते हैं और उनके होठ सूखने लग जाते हैं। यह सभाशास्त्र स्वयं में एक अध्ययन करने की वस्तु है। यह तो 'दंगल' है जिस में सिंहगर्जना वही कर सकता है जो पहले से जयभेरी बजाने का परिष्कृत अभ्यास कर चुका हो। नहीं तो समय पर सीखे हुए 'दांव' भूल जाते हैं और कण्ठस्थ की हुई पंक्तियां विस्मृत हो जाती हैं। धारावाहिकता वक्ता के गुणों में प्रथम है। किसी विषय पर बोलते समय बीच २ में रुकना, विषयान्तर होना या कहते हुए विषय को बार २ दोहराना, पिष्टपेषण करना, अथवा विषय की क्रमबद्धता को स्थिर नहीं रख पाना ये वक्ता के दोष हैं। यदि विषय के अनुकूल भाषा न बोली जाएगी तो समझ में न आने के कारण श्रोता विरक्त हो जाएंगे। यह दोष श्रोताओं का नहीं, वक्ता का होगा। कहा है-'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं यावत् श्रोता न बुध्यते' जब तक सुनने वाले सभासद विषय को नहीं समझ पावें, वक्ता का ही बुद्धिमान्द्य इस में मानना होगा। एतावता वक्ता के आवश्यक गुणों में श्रोताओं का अध्ययन सम्मिलित है। सभा का विषय क्या है? श्रोता कैसे हैं? किस भाषा में निपुण हैं? किस विषय को सुनना पसन्द करते हैं? इत्यादि को जान कर ऋत, मित, मधुर शब्दों में अपने वक्तव्य को प्रस्तुत करने वाला कभी

असफल नहीं हो सकता और इसके विपरीत श्रोताओं की रुचि, बौद्धिकस्तर और अपने हृदयग्राही भावप्रेषणसामर्थ्य से वंचित व्यक्ति अनेक शास्त्रों का धुरीण होने पर भी सभामंच को स्थिर नहीं रख सकता। सफल वक्ता की सभा में 'सूचीपात निःशब्द' शान्ति रहती है। श्रोताओं के समूह, लोहा चुम्बक की ओर जैसे खिंचता है, खिंचे चले आते हैं। उनकी सारी इन्द्रियां उस समय श्रोत्रेन्द्रिय में आकर बैठ जाती हैं। एक-एक शब्द और उसके अनुगत अर्थ को श्रोता जब हृदय में उतारते चले जाएँ और उनकी उत्कण्ठा पी-पीकर भी अतृप्त होकर और सुनने की मांग करती रहे तो समझना चाहिए कि सभामंच का अधिष्ठाता सिद्धवक्ता है। सभाशास्त्र में निपुण ऐसे वक्ता के लिए ही कदाचित् श्री गुणभद्र आचार्य ने 'आत्मानुशासन' में लिखा है—

> प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
> प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
> प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दकः
> ब्रूयाद् धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ॥४॥

अर्थात् जो धर्मकथा कहने के लिए सभामंच को अलंकृत करे उस मुनिको विद्वान्, समस्त शास्त्रों के हृदय को जानने वाला, लोकमर्यादाओं को समझने वाला, किसी प्रकार की आशा न रखने वाला, प्रतिभावान्, इन्द्रियसंयमी और प्रश्न के पूर्व ही उसके उत्तर को भलीभांति देखा हुआ होना चाहिए। साथ ही वह प्रश्नों की बौछार में विचलने वाला न हो, अधिकारसहित सभा पर नियंत्रण रखने में कुशल हो, सभा का हृदय जीतने वाले मिठास से बोलता हो, पराक्षेप न करते हुए अपनी बात का समर्थक हो और अक्षरों के माधुर्यगुणों का रक्षक हो, उसे ही सभा में बोलने का आशीर्वाद आचार्य ने दिया है।

जैसे अन्न के कुसूल (छिलका, भूसा) को शूर्प से फटक कर ही उपयोग में लिया जाता है, उसी प्रकार अपशब्द को प्रयोग में न लाते हुए जो सूक्ति-सरस्वती का दोहन करता है वह वाणी में स्तोत्रपदावली की प्रतिष्ठा करता है। कल्पवृक्ष के समान वाणी उसे फलदायिनी होती है। लोक उसे मधुरभाषी कहते हैं। मिष्टवाक् को कौन नहीं चाहता। लोक कल्याणी भाषा सुनना चाहता है और जो इस विशिष्ट गुणगर्भित वाक् की उपासना करता है वह लोक को वश में करने की क्षमता रखता है। पं० दौलतरामजी ने 'छहढाला' में भाषासमिति प्रकरण में लिखा है—

'जग सुहितकर सब अहितहर
श्रुतिसुखद सब संशय हरैं।
भ्रमरोगहर जिनके वचन
मुखचंद्र तैं अमृत झरैं ॥

मधुरभाषिता लोक वशीकरण का अमोघ मंत्र हैं। उपदेश को भी कठोर शब्दों में सुनना बहुत से पसन्द नहीं करते। इसीलिए उपदेश्य की कटुता को मृदु करने के लिए व्याख्याता बीच २ में मन को आकर्षित और प्रफुल्ल करने वाली सूक्तियों और कथाओं का आश्रय लेते हैं। अमृतस्नात वाणी का व्यवहार वक्ता का धर्म है। 'क्विनाइन' की गोलियों को शक्कर में लपेट कर देने से उनकी कड़वाहट प्रतीत नहीं होती। ऐसे ही उपदेशवाणी को भी मधुर, संयत और आह्लादक धर्म से विभूषित करना अधिक उपादेय सिद्ध होता है। इस प्रकार के वक्तृत्व से विभूषित वक्ता कदाचित् ही लोक के सौभाग्योदय से मिल पाते हैं। 'योगवासिष्ठ' का मत है कि—

'शतादेकतमस्यैव सर्वोदारचमत्कृतिः ।
ईप्सितार्थार्पणैकान्तदक्षा भवति भारती ॥'

प्रतिपद उदार भावों से युक्त, अथ च चमत्कारगर्भित और इच्छित भाव प्रेषण में कुशल वाणी सैंकड़ों में किसी एक को मिलती है। गंगाप्रवाह के समान अस्खलित, समुद्रवेला के समान प्रत्येक क्षेपण में मुक्तामणिसम्भार को लिये हुए, वर्षाकालीन मेघों के समान धीर-गम्भीर और कमलकुंज के सदृश जडाशयों (जलाशयों) के अन्तःकरण का भेदन कर ऊपर प्रस्फुटित होने वाली वाणी किसी को ही उपलब्ध होती है। जिसको वह उपलब्ध हो वह साक्षात् 'वागवतार' ही है, ऐसा मानना चाहिए। क्योंकि, निर्दोष, प्रसन्न, पुष्कल, सम्यग् वागृविभव की प्राप्ति अन्यथा असम्भव है। कहा भी है कि—

'हेलया राजसिंहेन यत्कृतं कलकूजितम् ।
न तद् वर्षशतेनापि जानात्याशिक्षितुं बकः ॥'

राजहंस अपने स्वाभाविक स्वर में जैसा मधुर कल कूजन कर जाता है वैसा सौ वर्ष शिक्षा प्राप्त करने पर भी बकोट कर सकता है क्या ?

जिस प्रकार लोकरंजन राजा के लिए कठिन है उसी प्रकार सभारंजन वक्ता के प्रभुत्व की पहचान है। सभासदों की रुचि को न पहचान कर किसी

नितान्त व्यक्तिगत, रूखी अथवा मूल विषय से असम्पृक्त चर्चा को विस्तार देने से श्रोता ऊबकर उठने लगते हैं या परस्पर बातचीत करने लग जाते हैं। यदि पूरे व्याख्यान अथवा प्रवचन में उन्हें कुछ उपादेय और शिक्षाप्रद तथ्यों की प्राप्ति नहीं हुई तो अविज्ञ वक्ता को दूसरे दिन सभास्थान पूर्व दिन के समान आकीर्ण नहीं मिलेगा। अतः सभायोग्य वाणी को पहचानना वक्ता का आवश्यक गुण है। कहा भी है—

'तास्तु वाचः सभायोग्या याश्चित्ताकर्षणक्षमाः।
स्वेषां परेषां विदुषां द्विषामविदुषामपि ॥'

सभास्थान में जो आत्मीयों, अनात्मीयों, विद्वानों, दोषद्रष्टाओं और निरक्षरों सभी को अपनी वाग्धारा से आकर्षित कर ले वही श्रेष्ठ वक्ता है। किन्तु कुशल वक्तृत्वशक्ति होने पर भी प्रत्येक का उपदेश ग्राह्य नहीं माना जा सकता। 'वक्तुः प्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम्' वक्ता की प्रामाणिकता से उसके वचन में प्रामाणिकता आती है। स्वार्थसाधन के लिए, द्वेष, मत्सर, हिंसा को प्रोत्साहन देने के लिए बहुत से दक्ष व्यक्ति सभासदों का मन आन्दोलित कर देते हैं किन्तु उस आवेग के परिणाम अशुभ होते हैं। इस दृष्टि से सभामंच पर व्याख्याता का पीठ अपक्व, असन्तुलित विचारधारा के वक्ता को नहीं दिया जा सकता। 'आत्मानुशासन' में श्री गुणभद्र आचार्य ने कहा है—

'जना घनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः ॥'

गरजते हुए अन्तःसलिलशून्य वारिदों के समान अन्तःसारहीन बहुत से लोग उठ खड़े होते हैं और बोलने लगते हैं। किन्तु उनके उठने से लोकतृषा का शमन नहीं होता और साररहित बहुवादी के विप्रलाप से लोक को सत् की प्राप्ति नहीं हो सकती। संसार का उद्धार करने की अभिलाषा लेकर चुपचाप बरसने वाले जलधरों की आर्द्र आत्मा के सरूप लोकहितकारी सन्त वक्ता तो बहुत ढूंढने पर मिलते हैं। उन्हीं के उपदेशश्रवण से प्राणियों का हित होता है। अहित दूर होकर कल्याण मार्ग के दर्शन होते हैं। सम्यग् रस उनके जिह्वाग्र पर करबद्ध विनति करते हुए उपस्थित रहते हैं। वे क्षण में शृंगार में सराबोर कर दें और क्षण में श्रोताओं की नयनपंक्ति को अश्रुस्नात कर दें। विराग के पर्यन्त द्रष्टा वे अपनी वाग्धारा के स्वच्छ प्रवाह से लोकमानस की मलिनता

को प्रभावित कर देते हैं। प्राचीन काल में अनेक आचार्यों ने परिभ्रमण करते हुए अपनी समर्थ सम्यक् जिनवाणी से लोक में धर्मप्रभावना की है। उन्होंने अपने वक्तृत्वसामर्थ्य से लोक को भव्य परिणामी बनाया है और मुमुक्षु मार्ग से परिचित किया है। कुम्भकार के 'आवे' से सद्यः उतरा हुआ शराव जैसे पानी को तुरन्त शोष लेता है उसी प्रकार ऐसे लोकवन्दित आदर्श त्यागियों की वीतराग सरस्वती को श्रोतृसमाज सावधान होकर श्रुतिपुट से पीता है। अपनी अशान्तता पर शान्ति-उपलेप लगा हुआ अनुभूत करता है। भव्य सभासद उनकी वाणी के रथ पर आरूढ होकर धर्म के नन्दनवन में पहुँच जाते हैं। ऐसे वक्ताओं में आचार्य अकलंक देव और आचार्य समन्तभद्र का नामोल्लेख अग्रपंक्ति में किया जाता है। श्रमणबेलगोला के ५४ वें शिलालेख में संगृहीत एक श्लोक आ० समन्तभद्र की अप्रतिभट वक्तृतासामर्थ्य का सूचक है—

'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चात् मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते! शार्दूलविक्रीडितम्॥'

'करहाटक के राजा को उसकी विद्वत्परिषद में उपस्थित होकर आचार्य समन्तभद्र ने चुनौतीभरे स्वर में कहा—पहले मैंने पाटलीपुत्र में जयभेरी बजाई फिर मालव, सिन्धु, ठक्क (ढाका) देश, कांचीपुर और विदिशा में वादभिक्षा के लिए घूमा। हे राजन्! अब मैं भटों से युक्त, विद्या से उत्कट तथा अल्प विस्तार वाले आपके करहाटक नगर में आ पहुँचा हूं। मैं सर्वत्र निर्द्वंद्व, सिंहवृत्ति से वाद करने के लिए विचरण कर रहा हूँ।' धर्मप्रभावना के लिए आचार्य अकलंकदेव ने बौद्धों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया था। उस प्रसिद्ध शास्त्रार्थ की सूचना निम्न लिखित श्लोक में बड़े हृदयग्राही ढंग से निबद्ध की गई है—

'नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्धया मया।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य स घटः पादेन विस्फालितः॥

'मैंने जनसमूह को सौगतों के नैरात्म्यवाद में पड़कर विनष्ट होते अनुभव किया तो उन आत्मवंचितों के प्रति मेरा हृदय करुणा से आप्लावित हो गया।

यही कारण है कि बौद्धों और जैनों के बीच हिमशीतल नृपति की सभा में, जिसमें प्राय: बहुसंख्या में विद्वत्समाज विराजमान था मैंने जैन और बौद्ध दर्शन पर निर्णयात्मक शास्त्रार्थ में भाग लिया और नैरात्म्यवादियों के उस तान्त्रिक घट के साथ ही उनके अभिमानघट को पैर की ठोकर से फोड़ दिया। यह मैं अहंकार अथवा द्वेषवश नहीं कह रहा हूं।'

मिस्टर एम. एस. रामस्वामी आयंगर ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म' में लिखा है कि—'समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैन धर्म प्रचारक थे, जिन्होंने जैन सिद्धांतों और जैन आचारों को दूर दूर तक विस्तार के साथ फैलाने का उद्योग किया है। जहां कहीं वे गये उन्हें दूसरे सम्प्रदायों की तरफ से किसी भी विरोध का सामना करना नहीं पड़ा।' आचार्य समन्तभद्र को दिग्विजय जैसी यह सफलता बिना किसी विरोध के मिल सकी, इसमें उनकी निरभिमान, मधुर तथा लोकोपकारपरायण भावना से अनुप्राणित अनुपम वादशैली परम सहायक रही। प्रतिवादी के अभिमान को शिर से पैर की एडी तक उतार कर भी उन्होंने अपनी माधुर्य भावना को सुरक्षित रखा। इससे पराजित प्रतिवादी केवल शास्त्रार्थ में ही विजित नहीं हुआ प्रत्युत मनोभूमि की औदार्यस्पर्धा में भी उसे हार स्वीकार करनी पड़ी। परिणामत: प्रतिवाद के स्वर अनुवादी बन गये।

इस प्रकार जैनपरम्परा के शास्त्रधुरीण आचार्यों ने प्राचीन भारत में वक्तृत्वमाध्यम से धर्मसंवर्धन में अपूर्व अथ च प्रभूत सहयोग किया है। वस्तुत: यह व्यक्ति और समाज के हित में धर्म और चारित्र को प्रसारित करने की एवं व्यक्तियों में भावसंवेदन को संकुल करने की निर्दोष पद्धति है[1]। अन्धकार का निवारण सूर्योदय से ही होता है। दिनकर के समान ज्ञानकी सहस्र किरणों से अज्ञानान्धकार का विनाश करने वाले उच्चकोटि के त्यागी ही मिथ्यात्व को भगाने के लिए अपने सम्यक्पदों का अप्रतिहत विन्यास करते हैं। 'वक्ता दशसहस्रेषु' दस हजार व्यक्तियों में वक्ता एक होता है। इस कलिकाल में तो यह अनुपात भी उपलब्ध नहीं हो पाता। क्योंकि, समारंजन और विशिष्ट सन्दर्भसंवलित पदों की साधना में आज परिश्रान्त होने वाले बहुत हैं। यों सभाएं

१. क्षुल्लक श्रीभद्रबाहु ने अपनी प्रभावशालिनी वक्तृत्व शक्ति से मैसूर-कर्णाटक राज्य में सन् १६५६ में अपने तीन महिने के प्रवचनों से ५००० पांच सहस्र 'सादर' जाति के लोगों को जैन बना दिया। वाणी की समर्थता का यह साम्प्रतिक उदाहरण है।

पूर्वापेक्षया अधिक आयोजित होती हैं और उनमें आवश्यकर्ताओं की एक लम्बी सूची भी रहती है। मंच पर 'दो शब्द' बोलने का व्यामोह बहुत है। किन्तु साधना के आसन रिक्त हैं, स्वाध्याय के क्षेत्र उपेक्षित हैं, आगम के पृष्ठों को दीमक चाट रही है, शास्त्रों के वेष्टन कभी वर्षों में खुल पाते हैं। ग्रन्थों की पूजा तो बढ़ गई है किन्तु उनका सच्चा आराधन समाप्तप्राय हो गया है। गुरुचरणों में बैठकर विनय, नम्रता और भक्ति के अर्घ्य उपनीत करने वाले शिष्यों के दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। अल्पमति बालकों में सुविज्ञ वृद्धों से बढ़कर अहंकार आ गया है। इसी लिए—

> 'वक्तारः प्रतिसद्म सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो
> येभ्यस्तत् परमात्मतत्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः।'

जो व्यामोह का विस्तार करें ऐसे वक्ता तो घर-घर में हैं परन्तु जिनसे परमात्मतत्वविषयक ज्ञान मिले, वे दुर्लभ हैं। वही 'वक्ता दशसहस्रेषु' की स्थिति सच्ची वक्तृता के क्षेत्र में बनी हुई है। इस स्थिति पर दुःखित होकर आशाधर सूरि ने लिखा—

> 'कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
> खद्योतवत् सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्॥'

'कलियुग वर्षाऋतु के समान है इसमें दिशाएं मिथ्यात्व मेघों से ढंकी हुई हैं। अच्छे उपदेशक जुगनू के समान कहीं कहीं चमकते हैं।'

अतः जिन्हें जिनवाणी का अमृतप्रसाद प्राप्त करना है, वह बुद्धि के स्फुरण और उक्तियों के नवोन्मेष के लिए श्रुतपाठी बने। यह आगम विशाल वृक्ष के समान है। अनेकान्त के पुष्पों-फलों से विकसित भारायमाण है, स्याद्वाद वाणी की पत्रावली से आकीर्ण है, अनेक नयशाखाओं से युक्त है, यह बहुत ऊंचा है, सिद्धालय तक इसकी शाखाओं के प्ररोह उठे हुए हैं, त्रिविध सम्यक्त्व से इसका मूलविस्तार हुआ है। मन, जो चंचल वानर के समान है, सहज ही इस पर यथेच्छ रमण कर सकता है। 'आत्मानुशासन' का यही अभिप्राय निम्न श्लोक में वर्णित है—

> 'अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते
> वचः पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।
> समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं
> श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्॥'—१७०

अक्षरबोध कराने वाला शिक्षक शिशु छात्र को अ,आ, इत्यादि सिखाता है और अनेक बार अभ्यास कराते हुए विद्यार्थी पर झुंझला जाता है। किन्तु अभी अक्षरबोध सीखता हुआ बालक शिक्षक के समान द्रुतगति से 'वर्णमाला' कैसे लिखे। वक्तृत्वसिद्धि के लिए भी इसी प्रकार छात्रावस्था से निकलकर 'गुरु' बनते दीर्घकाल लगता है। इच्छित विषय पर अर्थबोधकुशल शब्दों का क्रमिक अवतरण बड़ी तपःसाधना से हो पाता है। इन्दु भी चाहने पर एक ही दिन में षोडशकलापूर्ण उदय नहीं हो सकता। 'कला' शब्द का अर्थ ही भाग, अंश, खण्ड इत्यादि है। अनुदिन कला-कलासमेधमान वक्ता चन्द्रमा के समान पहले दिन कुमुदिनी को खिलाता है और पर्वदिवस आते आते वह महासमुद्रों के मानस को उद्वेल्लित कर देता है। इसी क्रम से साधुवक्ता भी अपने सम्यग् वाग्रस से जन-समुद्र को परिपक्व होकर ही प्रसन्न, तरंगित कर सकता है। जैसे समुद्र में कल्लोल उठाने की कला कलाधर को (चन्द्रमा को) विज्ञात है उसी प्रकार जनमानस को भावोच्छ्वसित करने का कौशल अच्छे वक्ता को सिद्ध होता है। वह शब्दों के अन्तःकरण को पहचानता है। किस समय, कौन शब्द श्रोताओं के हृदय को विकसित कर सकता है और कौन शब्द विरक्त, विरस कर सकता है, इसे वह असन्दिग्ध रूप से पहचानता है। इसी गुण से वक्ता के साथ श्रोता समरस हो जाते है। इस तत्व को जो नहीं जानते वे सफलता से वंचित रहते हैं और जानने वालों को सिद्धि मिलती है। ठीक ही तो है—

'तत्वज्ञानविहीनानां दुःखमेव हि शाश्वतम्।
पक्वज्ञानवयस्येव गुणाःसर्वेऽपि सिद्धिदाः॥'

कभी सूत्र रूप में, कभी विस्तार से, कभी कथोपकथन और उदाहरणों से किन्तु विषय, हेतु और तथ्यों से दूर न जाते हुए एक शृंखलाबद्ध सुनियोजित वाग्धारा में पीयूष पिलाने का यह क्रम स्थिर रखना चाहिए। यदि श्रोताओं में से एक भी चलविचल, अन्यमनस्क दिखायी दे तो सफलता के चौखुंटे खुर्रे की एक खूंट टूटी हुई अनुभव करनी चाहिए। इस पर नियंत्रण किस उपाय से किया जा सकता है इसे श्रोता को जम्भाई आने लगे, इससे पूर्व ही पहचान लेना उत्तम है। 'किं मे जनःपश्यति भावभाषिते' यह सतर्क वक्ता का गुण है। प्रवचन का प्रारम्भ और समाप्ति निर्धारित समय पर होने आवश्यक हैं। नहीं तो लोग देरतक आएंगे अथवा नहीं आएंगे। यदि सूचित किये हुए समय से विलम्ब कर प्रवचन प्रारम्भ करेंगे तो श्रोता घर से ही देरी से चलेंगे और ठीक समय पर समाप्त न करेंगे तो

नित्य के कामकाजी आदमी दूसरे दिन आने में आग्रह नहीं रखेंगे। आज के व्यस्त युग में घड़ी को कार्यक्रम से मिलाना सफलता का प्रथम पाठ है। श्रोताओं को विश्वास होना चाहिए कि वक्ता नियत समय पर व्याख्यान आरम्भ कर देंगे, हम पहुँचें या न पहुँचें। तब वे पहुंचने लगेंगे।

किसी स्थान पर अनेक दिनों तक बोलना पड़े, वहां वक्ता के संचित ज्ञान-कोष की पहचान होती है। ऐसे स्थानों पर अवसरवादी नहीं, स्वाध्यायवादी टिक सकता है। जैसे सुसिंचित बकुल (मौलिश्री) वृक्ष प्रतिदिन बासी पुष्पों को गिराकर नये नये पुष्प शाखाओं पर खिलाता रहता है उसी प्रकार सद्वक्ता गये दिन का चर्वितचर्वण नहीं करता और नवीन विषय, नवीन उन्मेष श्रोताओं के सम्मुख उपस्थित करता है। उस बकुल को जैसे पृथ्वीगर्भ से अपना परिपाक और नित्यपुष्पता मिलती रहती है उसी प्रकार अच्छे कृतस्वाध्याय वक्ता को अपने अधीत शास्त्रस्रोतों से नये प्रकरण, नयी धाराएं उपलब्ध होती रहती हैं। कमल सूखता नहीं, क्योंकि उसका मूल पानी में है और श्रेष्ठ वक्ता विषय, शब्द और नये भाषित के लिए दीन नहीं होता क्योंकि उसका मूल 'ज्ञानार्णव' में है। ऐसे वक्ता नित्य ही अपूर्व बोलते हैं, सदा ही उनका स्तर ऊंचा रहता है और उनकी आह्लाददायिनी वाणी से मोहतम उच्छिन्न हो जाते हैं। इस आशय का सुभाषित है—

'अपूर्वाह्लाददायिन्यः उच्चैस्तरपदाश्रयाः ।
अतिमोहापहारिण्यः सूक्तयो हि महीयसाम् ॥'

सद्वक्ता लोकमानस में व्याप्त निराशा, अनुत्साह, मोह और मिथ्यात्व को दूर कर उसमें उत्साह, ज्ञान और सम्यक्त्व की प्रतिष्ठा करता है। उसके प्रत्येक पद से विश्वास की ध्वनि निकलती है, आत्मचेतना के छन्द गूंजते हैं, विवेक और धर्मानुराग के भावोन्मेष होते हैं। श्रेष्ठवक्ता की वाणी जनमानस के पापपंक-प्रक्षालन में धर्मनिर्झर के समान है, कायर हृदयों में ओजस्विता पूरने वाला भेरीनाद है। यदि सन्मार्ग के दर्शयिता, गुरु पीठ को अलंकृत करने वाले सद्वक्ता कठोर भी बोलें तो उनके परिणामों की मधुरता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। 'आत्मानुशासन' का निर्णय है कि—

'विकासयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः ।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः ॥'१४२

कमल पर गिरती हुई सूर्य की प्रखर किरणें उसे खिला देती हैं। भव्यजनों को यदि प्रकरणवश गुरु कठोर शब्दों में भी कहें तो उसमें भी उनका विकास है। गुरूक्तियों को सुनकर जीवन धन्य हो जाता है। मर्त्य अमर बन जाता है। अविद्या के तन्त्र निष्प्रभाव हो जाते हैं। किमधिकम्, लौकिक वक्ताओं को तो वाक्श्रम करना पड़ता है किन्तु धर्मगुरु की तो मुद्रा ही मोहनिद्राविद्रावण में समर्थ है ! 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्या उच्छिन्नसंशयाः' वे मौन रहते हुए भी व्याख्यानसर्वस्व प्रकट कर देते हैं कि शिष्यों के संशय स्वयं पलायित हो जाते हैं। उनका तप, संयम और चारित्र शंकाओं की कुज्झटिका को टिकने नहीं देता। यह वक्तृत्व वीतरागतपोधनों के मुख पर ही परिलक्षित होता है। अशब्द किन्तु शब्द व्यंजना की शक्ति से अधिक सामर्थ्यशील। भाषासमिति का पालन करने से श्रमणमुनियों की वाणी में तपःप्रभाव होता है। ये समर्थ वक्ता बहुधा मौन रहते हैं किन्तु धर्मचर्चा के लिए कामधेनु जैसे स्तनों से अमृत क्षरित करे वैसे अपनी सारदुघा वाणी का मौनभाव भंग करते हैं। कन्नड़ भाषा के एक हिन्दू कवि ने इन्हीं समर्थवाक् त्यागियों को लक्ष्य कर लिखा है—

'उप्पु सप्पने यक्कु
कर्पूर करि दक्कु
सर्पनिगे बालेरडक्कु
श्रमणतातप्पाडिदन्ते सर्वज्ञ' ॥१०१३॥

'अर्थात् कालदोष से नमक का क्षारत्व नष्ट हो सकता है, कर्पूर काला और सर्पपुच्छ द्विधा विभक्त हो सकती है किन्तु श्रमणमुनियों का वचन कभी दो नहीं हो सकता।' सर्वज्ञ कवि ने कितनी आस्था से यह लिखा है। वास्तव में सत्य-महाव्रत का पालन करने वाले त्यागी अल्पभाषिता से अपने वचनों की प्रामाणिकता के लिए विश्रुत हैं। यद्यपि वे हित-मित और सारवचन ही बोलते हैं किन्तु अपेक्षा-भेद से किसी को अमृत और किसी को 'करेला' के समान प्रतीत होते हैं। सूर्य की किरणें तो वे ही हैं जो कमलवन को विकसित करती हैं किन्तु कुमुद मुरझा जाता है और उलूक की आंखें अन्धकारावृत हो जाती हैं। यहां ग्राहकभेद से परिणामभेद हो जाता है। आचार्य समन्तभद्र की वक्तृता से धर्माभिरुचि जनमानस तो प्रसन्न-गद्गद हो जाता था किन्तु वे ही वचन कुमतिशीलों पर वज्रपात थे। 'यद्वचो-वज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः' ऐसा जिनसेन आचार्य ने समन्तभद्र की वाणी के परिणाम विशेष को देखकर ही लिखा है। अन्यथा तो उन अनुकम्पापरायणों का

वचन सम्यग्ज्ञान जल से निर्मल ही होता है। जिनके पास अमृतसिंचित वचनों का कोष हो, वे जिह्वा को आर्द्र करने के लिए हालाहल के पास क्यों जाएं ? और सागर अपनी प्यास बुझाने के लिए मरुस्थलों से क्यों याचना करे ? जिसको वाणी का यह दैवीस्रोत मिला है, उसे चाहिए कि अस्खलितधारा से इसका पान कराकर लोकमानस को आकण्ठ तृप्ति प्रदान करे। कृपणता न करे। तमिल भाषा के 'कुरल' काव्य की पंक्तियां हैं—

'इनिय उलवाग इन्नाद कूरल
कनिं इरुप्प काय कवन्दद्रु'।' १००, अ. १०

'जिसके मुख में मधुरता का अक्षय स्रोत है वह भी यदि कटुवादी है तो मानो, पारिणस्थ मीठे फलों को छोड़ कर खट्टे फलों को खाता है।'

साधु वक्ता अपने वक्तृत्व से श्रोताओं को सम्यक्त्व की ओर प्रवृत्त कराता है। स्वयं सम्यङ्मार्गी होकर दूसरों को उसी पथ का पथिक बनाने की प्रेरणा करता है। 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' उसका धर्म नहीं। सन्त तुकाराम ऐसे वीतराग वक्ता को उद्देश्य कर लिखते हैं—

'जैसा बोले तैसा चाले।
त्याची वन्दावे पाउले॥'

'जो जैसा बोलता है वैसा ही चलता है उसके चरणों को वन्दना है।' क्योंकि बोलना सरल है चलना (आचरण करना) कठिन है। जिसका आचरण जिह्वाग्र पर स्थित है, वह धन्य है। वाणी और गति को एक मार्ग से ले जानेवाला ही शब्दों के सत्य अर्थ जानता है। शब्द का सत्य अर्थ उसकी क्रियात्मकता ही है। परन्तु इस वास्तविकता को सभी नहीं जानते। शब्दोच्चारण का आयास सभी करते हैं किन्तु अधिकतर उनमें 'वावदूक' होते हैं और कोई-कोई 'वाग्मी'। केले के स्तम्भ को छीलने से अन्त तक उसमें सार नहीं मिलता वावदूकों की वाचालता के समान। अतः वाग्मिता की ओर वक्ता का प्रयत्न रहना चाहिए न कि वाचालता की ओर।

वक्ता के व्याख्यान से लाभ उठाने वाले श्रोताओं में कुछ राजहंस पक्षी के समान होते हैं जो सार ग्रहण के लिए अपने अवधान के चंचुपुटों को तत्पर रखते हैं। कुछ कच्ची 'ईंट' के समान भी होते हैं। पानी बरसा तो गीली हो गई और सूर्य किरणें लगीं कि सूख कर सख्त, वैसी जैसी पहले थी,

पानी के भंवर में बेहाल। सभा में बैठे तो भावप्रवाह में ऐसे बहे कि कभी रोये और कभी हंसने लगे। बाहर निकले, मुंह धोया और वैसे ही कूटस्थ। श्मशान-वैराग्य के समान। परन्तु इन दोनों से भिन्न तीसरे श्रोता तो चलनी या कंघी के समान हैं जो व्याख्यान के उत्तम अंशको ग्रहण ही नहीं कर पाते। बेचारों के पल्ले में तुष या मैल ही रह पाता है। कमल भरे तालाब में उन्हें कीचड़ ही हाथ लगता है। इसमें वक्ता क्या करे ? कोई पंक से उपादान लेकर कमल हो जाता है और कोई दूध से निकल कर खट्टी छाछ ही रह जाता है।

श्रेष्ठ वीतराग वक्ता को वक्तृत्वकलानिपुण होकर भी इसे उतना ही महत्त्व देना चाहिए जितने से धर्मप्रभावना होती हो। इसमें दक्ष होने के लिए अपने धर्म-ध्यान के प्रति अनवहित नहीं होना चाहिए। इन्द्रनन्दी ने नीतिसार में कहा है—

'सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो व्याख्यानादि च वर्जयेत्।
विरक्तो मौनवान् ध्यानी साधुरित्यभिधीयते ॥१७'

संसार के यावत् पदार्थ द्वन्द्वबाधित हैं। राग-द्वेष, सुख-दुःख, अनुराग-विराग इत्यादि परस्पर एक दूसरे में सम्भिन्न हैं। त्यागी को इस द्वन्द्वों की 'रस्साकशी' से दूर रहना चाहिए। एक समय जो सुख प्रतीत होता है वही काल-भेद से दुःख लगने लगता है। जो दूध नीरोग अवस्था में बल, वीर्य और कान्ति देता है वही अतिसार के रोगी को हानिप्रद है। इस प्रकार के सुखों और दुःखों में नियतवृत्ति का अभाव है। कभी वे सुख-से लगते हैं कभी दुःख-से। इसीलिए स्थिति द्वन्द्वात्मक है। यहां का सुख शाश्वत सुख नहीं है और दुःख भी शाश्वत दुःख नहीं है। आश्रयभेद से, कालभेद से, अपेक्षाभेद से सुख भी दुःख-से और दुःख भी सुखों-से प्रतीयमान होते रहते हैं। इसीलिए इन विनश्वर इन्द्रियव्यापारविषयीभूत परिच्छिन्न द्वन्द्वों से अलग रहने का अनुरोध त्यागी के लिए किया गया है। इन्द्रनन्दी ने कहा है कि जो सर्वविध द्वन्द्वों से मुक्त है, विरक्त है, मौनधारण करने वाला है और व्याख्यानादि से वर्जित है वही साधु है। यहां व्याख्यान से तात्पर्य 'तत्वचर्चा' है। तत्वचर्चा का माध्यम शब्द शास्त्र है। शब्द भी भोग हैं। यदि भगवान् की स्तुतिपदावली गाते हुए मनमें वीतराग भाव का उदय होता है तो श्रृंगार पदावलो सुनकर राग के भावों का उन्मेष होना भी अवश्यम्भावी है। मन्दिरों के घण्टानाद और स्त्री के नूपुरों की ध्वनि शब्दायमान होकर श्रोता के हृदय में भिन्न-भिन्न भावों को जगाते हैं। कोयल की 'कुहू' सुनकर रागियों के

मन चंचल हो उठते हैं, उसे साहित्यिक 'कामपक्षी' कह कर पुकारते हैं। निस्तब्ध रात्रि में मेघ की गम्भीर गर्जना सुनकर, हृदय का स्पन्दन बढ जाता है। यह शब्द की भोग शक्ति का प्रमाण है। नम्रता से कहे हुए वचनों से द्रवित होना और क्रोधावेश की शब्दावली से कठोर होना आश्चर्य की बात नहीं। यद्यपि साधुवक्ता तत्वचर्चा के निमित्त ही उनका उपयोग करता है तथापि यह बन्ध है। ज्ञान और तत्वचर्चा तक ही सीमित रहने वालों के लिए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

'मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसापवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाणं दुजदीण कम्मक्खओ विहिओ॥' १५६

'विद्वान् लोग निश्चय के विषयभूत अर्थ को छोड़कर व्यवहार द्वारा ही प्रवृत्ति करते हैं किन्तु परमार्थ का आश्रय ग्रहण करने वाले यतिजनों ने ही कर्मों का क्षय किया है।' अतः तत्वचर्चा, स्वाध्याय इत्यादि उद्देश्य मार्ग के साधन मात्र रहें तब तक तो कथंचित् ठीक हैं किन्तु इन्हें साध्य मान लेना उचित नहीं। इनमें भी आसक्ति रखना बन्धपरिणामी है। बहुत-से भव्यजन शास्त्रों को कण्ठस्थ कर लेते हैं, तत्वचर्चा में 'जोश-खरोश' के साथ प्रवर्तते हैं फिर भी मिथ्या दृष्टि रहते हैं। क्योंकि सम्यक्त्व के सूत्र चारित्र के रत्नपत्र पर लिखे हैं। अतः—

'वयणोच्चारण किरियं परिचत्ता वीयराग भावेण।
जो झायइ अप्पाणं परम समाही हवे तस्स॥'

'जो अपने वीतराग भाव से वचनों से बोलने की क्रिया को त्याग कर अपने आत्मा का ध्यान करता है, उसी को परम समाधि होती है।'

'सम्मेद शिखर' को शब्द चर्चा से नहीं देखा जा सकता न ही वहां के पुष्पों की सुरभि को चर्चा मात्र से प्रत्यक्ष किया जा सकता है। चर्चा तो उसके लिए प्रत्यक्ष-दर्शन की उमंग जगाने को है। प्रवचन तो गन्तव्य के मार्गदर्शन के लिए है। सिद्धि तो उस मार्ग पर अपने को चारित्र प्रवृत्त करने में है। अतः सम्यग् वक्ता को यथावश्यक हितमित भाषी होकर परमार्थ का पथ संकेत कर देना पर्याप्त है। उसका अपना हित तो आत्मध्यान में है।

मोह और मोक्ष

मोह और मोक्ष

मोहादिसर्वदोषारिघातकेभ्यः सदाहतरजोभ्यः ।
विरहितरहस्कृतेभ्यः पूजार्हेभ्यो नमोऽर्हद्भ्यः ॥
—चैत्यभक्ति, गौतमगणधर

'मोह' शब्द की उत्पत्ति 'मुह्' धातु से निष्पन्न होती है । इसकी व्याकरणानुसारिणी पदसिद्धि में 'अ' प्रत्यय लगता है और लोकपक्ष में देखा जाए तो मोह अप्रत्यय (अविश्वास) के योग्य ही है। जो इसे अपना हितू समझकर इसका प्रत्यय (भरोसा) कर बैठता है उसका इह और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। अज्ञान के जितने पर्याय हैं उन सभी का जनक (उत्पन्न करने वाला और पिता) मोह ही है। मोह से दृष्टि में विकार प्रादुर्भूत होता है। विकार से सदसद् विवेकिनी दृष्टि (ज्ञानचक्षु) अन्ध हो जाती है और जिस प्रकार पाण्डुरोगी को सभी वर्णों के पदार्थ केवल पाण्डु ही प्रतीत होते हैं उसी प्रकार मोहसछन्न व्यक्ति को सभी परपदार्थ मोहनीय रूप में गोचर होते हैं। वे परपदार्थ जिनका वास्तविक आकार मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु—कायिक है, जो तुच्छ हैं, मोहावरण कर्म की छाया में आकर्षक लगते हैं। जैसे किसी भित्ति पर रंग पोतकर कोई चित्र बना दिया जाता है और देखने वाले को उस समय केवल चित्र ही दिखाई देता है न कि दीवार इसी भांति मांस, मल, मूत्र, शोणित—समूह यह शरीर अपने वास्तविक बीभत्स रूप में न दिखकर ऊपर के चर्मसौन्दर्य से आपातरमणीय दिखाई देता है। मोह का यही प्रथम लक्षण है कि वह पहले आंखों में राग उत्पन्न करता है फिर हृदय में अनुराग को जन्म देता है। यह स्व और पर के वास्तविक आकार को मिटाकर विकार को जन्म देता है। जब विकारों को सहचर बनाकर जीव निराबाध विचरण करने लगता है तब उसे बार-बार जन्ममृत्यु के भरते और खाली होते रेंहटचक्र से विश्राम ही नहीं मिलता। जैसे रेंहटकूप का शराव पुनः पुनः पीकर भी प्यासा ही रहता है जिसके कारण उसे नीचे जलाशय (जड़ाशय-जड़ता के आस्थान रागद्वेष-कषाय) में उतर-उतर कर बारंबार मुखपूर्ति करनी होती है। किन्तु उसके भाग्य में तो तृप्ति बदी ही नहीं है अतः जैसे ही कुछ ऊपर उठता है शराबी की तरह उसके ओठ फिर सूखने लगते हैं और निदान यह कि उसकी

गोचगति और कर्मतृषा कभी शान्त नहीं हो पाती। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि—

'अत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसंजीवो।
मोहान्धकार सहियो तेन दु णवडदि संसारे॥

द्वादशानुप्रेक्षा—३४

यह जीव मोह से अन्धा होकर रात-दिन विषयों के निमित्त से होनेवाले जितने पापापराध हैं उन्हें यत्नपूर्वक करता नहीं थकता और परिणामस्वरूप निरन्तर भटकता रहता है। जिस प्रकार शंख को कोई भी मुंह लगाकर फूंक मारता है और वह बजने लगता है उसी प्रकार मोह से अन्ध हुए प्राणी को पांचों इन्द्रिय मुंह लगा-लगाकर अपनी राग में ही बजाती रहती हैं। स्व-पर विवेकशून्य बेचारे शंख के पास अपनी तो कोई राग है नहीं जिससे स्वयं कुछ बोल सके और बिना किसी सक्षम के मुंह लगे दिव्यध्वनि उसे प्राप्त नहीं होती। अतः जिस प्रकार वेश्याओं का मुख कोई भी चूमता रहता है उसी प्रकार ऐसे परानुनादियों को सब विकार उच्छिष्ट करते रहते हैं।

मोक्ष और मोह परस्पर छत्तीस (३६) के अंकों के समान विरोधिधर्मा हैं। ये पाणिनि व्याकरण के 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' सूत्र के 'अहिनकुलम्' अथवा 'श्रमणब्राह्मणम्' उदाहरण के समान हैं। यदि मोक्ष की परिभाषा के लिए 'सर्वकर्मविप्रमोचो मोक्षः' ऐसा लक्षण किया जाता है तो मोह के लिए 'सर्वकर्मसन्दोहो मोहः' कहना युक्तिसंगत होगा। ये दोनों ही बड़े सुभट हैं। एक निवृत्तिमार्ग का द्रष्टा है तो दूसरा प्रवृत्तिपथ का स्रष्टा है। एक की मुट्ठी में स्वर्ग और अनन्तसुख है तो दूसरे की भ्रूकुटी में नरक और अनन्त दुःख है। एक सुनीतियों का व्यवस्थापक है तो दूसरा अनीति का भण्डार है। एक सुष्ठु और दूसरा दुष्ठु, एक प्राणिमात्र का सखा तो दूसरा दुर्धर्ष वैरी। एक मणि-रत्नों का आकर तो दूसरा क्षारसार लवणाकर। एक के करतल में संसार की अशेष विभूतियां तो दूसरे में उनको भोगने की अनन्त सामर्थ्य। एक आनन्द से लहराता हुआ अपार पयोनिधि तो दूसरा भीषण वाडवज्वाला। संसार के इस विशाल अंगण में, अखाड़े में जैसे दो मल्ल सालम्भ (कुश्ती) 'भुजाभुजि' करते हैं। दोनों ही कामदेव के समान अनंग है-अंग से रहित हैं किन्तु प्रतिक्षण संसार के क्रीडांगण में इनकी 'जोर आजमाई' चल रही है। इस उठापटक में कभी मोह विजयी होता है तो कभी मोक्ष सवा सेर बैठता है। सत्-असत् प्रतिरूप इनका परस्पर संघर्ष कभी

समाप्त नहीं होता। विशेष ध्यान देने की बात तो यह है कि ये दोनों आपस में शत्रु होते हुए भी एक दूसरे की महिमा के आधार स्तम्भ हैं। मोह को जितना प्रबल मानेंगे उतना ही उस पर विजयी होकर मोक्ष महिमान्वित बनेगा और मोक्ष के मार्ग को जितने वेग से मोह छेंक देगा उतना ही मोह के विषय में अपरिच्छिन्न सामर्थ्य का परिकल्पन किया जाएगा। यदि कोई कवि या लेखक इन दोनों की सनातन स्पर्धी प्रतिमल्लता को न्यूनप्रभावी कर दे तो इन दोनों को, जो एक से एक बढ़कर बताया जाता है, उसका सभी आनन्द फीका पड़ जाए। मोह की उत्कटता पर विजयी होने से ही मोक्ष बलवान है और मोक्ष की आनन्दमयता को भी भुलाकर मिथ्याविकार पंक में फंसा देने से मोह की अतुल शक्ति का अन्दाज लगता है।

किन्तु मोह और मोक्ष में किसी एक का निर्वाचन करना पड़े तो मोक्ष को ही पसन्द करना चाहिए। क्योंकि मोह उच्छिष्टभोजी है। जन्म-जन्मान्तर में काम-क्रोध-लोभ-मान-मायादि विकारों को प्रतिक्षण भोगना किसी जूठे शराब को फिर-फिर मुंह लगाने से अतिरिक्त क्या है? इष्टोपदेश में इसी की ओर निर्देश करते हुए कहा गया है कि—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान् मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा?

अर्थात् अनेक बार मैंने सभी पुद्गल द्रव्यों को भोगा और छोड़ दिया। वे सभी तो उच्छिष्ट के समान हैं और आज जब मुझे यह प्रतीति हो गई है कि उच्छिष्ट हैं तब मेरी रुचि पुनः इसी ओर कैसे प्रवृत्त हो सकती है? अपने वान्तको तो कुत्ता ही चाटता है। किन्तु धीर गजराज के समान विज्ञ तो मुंह से बाहर निकले हुए दांतों को पुनः मुख में (भीतर) नहीं लेता।

मोह का परिवार बड़ा है। क्योंकि, जो नित्य ही भोगादि में फंसा रहता है उसका परिग्रह अधिक विस्तीर्ण होना स्वाभाविक है। किन्तु मोक्ष स्वस्वभावी होने से रागादिशून्य अतएव एकाकी है। निस्संग होने का लेशमात्र भी दुःख उसमें नहीं है। अपितु अपने निराबाध आनन्द समुद्र में एकान्त मिलने से वह अधिक शान्त, आनन्दमय और निराकुल है। जिस प्रकार ठण्डे लोहे से लोहा सम्पृक्त नहीं होता उसी प्रकार स्वज्ञानमय आत्मा को शीतल (जड़) पुद्गलपर्याय का स्पर्श नहीं होता।

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि ।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥

—इष्टोपदेश ७

जैसे पृथ्वी पर गिरते ही निर्मल वर्षा जल मलिन हो जाता है उसी प्रकार पुद्गलसम्पर्क में आते ही मोहनीय निमित्त से आच्छादित हो आत्मा अपने ज्ञाता-द्रष्टा सहज स्वभाव को प्राप्त करने में अशक्त हो जाता है। मोहाभिभूत यह पुरुष जड़ पदार्थों को पाकर उन्मत्त हो उठता है जैसे धत्तूरे के पुष्प खा लिये हों।

यह मोह राजा है। अन्य कर्म इसकी प्रजा हैं। यदि इस राजा का वध कर दिया जाए तो प्रजा स्वयं मृतक समान हो जाती है। जैसे वृक्ष का मूल पकड़ने से सारा वृक्ष ही अपनी शाखाओं, पत्रावलियों समेत हाथ में आ जाता है, उसी तरह मोह को वश में करने से समस्त परपर्याय कषायों को पराजित किया जा सकता है।

जो आत्मा मोक्षलक्ष्मी का समुपासक है वह लोभ से, परपदार्थरति से, सम्मान की इच्छा से, साद्यन्त सुखाभासों की स्पृहा से, भौतिक तृष्णाओं के कठिन पाश-बन्धन से मोह का दास बन जाता है। जो मुक्तिवन का सिंह है वही मुक्ति-पंजर में फंसकर स्पृहामृदु दवा हो जाता है। मोह की इस दुर्दमनीयता को कौन अस्वीकार कर सकता है।

मोह के विषय में पं० दौलतरामजी क्या ही अच्छा (विशद) निरूपण करते हैं—

मोह महामद पियो अनादि
भूल आपको भरमत वादि।३। छह ढाला—

मनुष्य ने मोहरूप महामद्य पी लिया है। तभी तो अपना स्वरूप भूलकर भटक रहा है। कविवर ने मोह को मद्य बताकर उसका सेवन भव्यजनों के लिए सर्वथा त्याज्य है, यह सहज ही बता दिया है। क्योंकि, श्रेष्ठ जन मद्य-मांस और मधु का सेवन नहीं किया करते और मोह, यह महामद्य है। अब कविवर बनारसीदास की कविता का रसपान कीजिए—

मोहकर्म परहेतु पाय चेतन पर रच्चय।
ज्यों धत्तूर-रसपान करत नर बहुविध नच्चय ॥

यह चेतन जीव पर पदार्थों में मोह कर्म से ही राग करता है। जैसे कोई धतूरा पीकर अनेक प्रकार से नाचने लगता है।

यह मोह ही सम्पूर्ण बन्धनों का मूल कारण है—

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्॥
—इष्टोपदेश २६

मोह सम्पूर्ण कर्मों का जनक है। यह धर्म का द्वेष्टा, अधर्म का मित्र, तथा रत्नत्रय को विस्मरण कराने वाला है। इसी के प्रभाव से प्राणी आत्म-स्वरूप को विस्मृत कर दुखों के चगुल में फंसे रहते हैं।

मुह्यन्ति देहिनो मोहान् मोहनीयेन कर्मणा।
निर्मितान्निर्मिताशेषकर्मणा धर्मवैरिणा॥ क्षत्रचूडामणि ७६

मोह प्रायशः अशुभ कर्मों की ओर ही प्रवृत्त करता है किन्तु यदि कदाचित् उपवास, व्रत आदि शुभ कर्म करते हुए भी उनके द्वारा स्वयंप्राप्त भद्र-परिणामों में आसक्ति-उत्पादक मनःसंकल्प रखें तो वह व्रतादि कर्म भी एक कायक्लेश ही है। अतः शुभगतिक कर्म करते हुए मनःसंकल्प भी अत्यन्त विशुद्ध और राग-कषाय-मोहादि से विवर्जित होने चाहिए। क्यों कि व्रतादि का प्राप्तव्य तो रागविशुद्धि और परिणामों की भद्रता है इसमें मोहादि कषायों की मन्दता वाञ्छनीय है। स्वामिकार्तिकानुप्रेक्षा का ४४२ वां पद्य इस प्रकार है—

उववासं कुव्वाणो आरम्भं जो करेदि मोहादो।
तस्स किल सो अपरं कम्माणं णेव णिज्जरणं॥

अर्थात् जो उपवासादि को मोहवश आरम्भ करता है उसके लिए यह एक कष्ट तो हुआ किन्तु कर्मों की निर्जरा नहीं हुई। उपवास का उत्तम फल तो मोह-परिणति नहीं, प्रत्युत कर्म-निर्जरा ही है। यदि उद्दिष्टध्येयानुबन्धी कर्म उसकी साधना में सहायक नहीं हुआ तो 'किन्तेन किम्पाकफलास्वादितेन ?

मोह के अस्तित्व को यदि सम्यक्त्व की खरी कसौटी पर परखा जाए तो यह निरा आकाशकुसुम अथवा 'धूल का फूल' प्रमाणित होगा। विद्वानों, एवं नीति-विदों ने मोह को पंक (मलिनता और पाप) माना है। अतः उसे ही सम्यग्दृष्टि कहा जाएगा जो कीचड़ में पांव रखकर पुनः उन्हें प्रक्षालित करने की अपेक्षा

उससे दूर ही रहता है। मोह महाप्रतारक है । इसके जैसा ठग न भूतो न भविष्यति । कोटि-कोटि जीवों के ज्ञान, विज्ञान, तप, संयम, आचार, और विवेक को पलक मारते अपहरण करने वाला, अलक्ष्यसिद्धि से बिना जाने ही अन्तः-प्रवेश कर हृदयको कालांजन से लीपने वाला, ऐसा ऐन्द्रजालिक जो अस्थिचर्ममय देह में गुलाब के फूल का भ्रम उत्पन्न कर दे, श्वास में दक्षिणसमीर की सुरभिको उच्छ्वसित कर दे और नेत्रों के संचार में काम की बाणावलि के अचूक लक्ष्य उद्भावित कर दे, विश्व में अन्य कोई नहीं । इसने राजमहालयों को लूटा, निर्धन की झोंपड़ियों को आग लगाई, विवेक रूप इन्द्र को नहुषगति में पहुँचाया, ज्ञान को वेश्या की हाट पर खुले हाथों बेचा, शांति की प्रसन्न धारा में मलिनता का मिश्रण किया, एक हलकी सी ठोकर दी और वज्रकठिन हृदयों को विश्वामित्र और मेनका की भूमिका में रंगविधान करने के लिए विवश कर दिया। ऐसे इस मोह को जो जीत लेता है वही संसार में सर्वविजयी, जिन, अर्हन्त, पदवी से विभूषित होता है । किसी संस्कृतकवि ने यह पद्य इसी मोह की दुस्तरता को लक्ष्य कर लिखा है—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना—
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।

जो पवन पीकर, पत्ते चबाकर अत्यन्त कठोर व्रत करते थे वे विश्वामित्र मेनका के रूपमोह में और पराशर मत्स्यगन्धा नाम की धीवरकुमारी के मोह में दिग्भ्रान्त हो गये । मोह का इससे बढ़कर सामर्थ्यनिरूपण किन शब्दों में किया जा सकता है ।

जिन जिन पदार्थों में मोह होता है उन उन के वास्तविक रूप का निदिध्यासन मोहनाश के लिए करना, क्षणभंगुर जानकर उनसे विरक्त होना, विरक्त होने का अभ्यास करना, सहायक हो सकते हैं। श्मशान में जलते हुए शव को देखकर भी उसी के साथ मोह को जलाया जा सकता है। 'हाड जले ज्यों लाकड़ी चाम जले ज्यों घीर'—प्रत्यक्षदर्शी के हृदय में ऐसी ही भावनाएं हिलोरने लगती हैं तब वह प्रत्यक्ष भेदविज्ञान से सार-असार को पहचान कर विरक्ति धारण करता है । कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ को इसी प्रकार दीन-हीन, विकलांग और शव देखकर विराग हो गया था । किसी ने कहा है कि—

'अहन्यहनि गच्छन्ति भूतानि यममन्दिरम् ।
शेषाणि स्थातुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ।'

संसार में प्रतिक्षण कालबली का खेला लगा है। लोग अपने आयुः काल की समाप्ति पर यम-मन्दिर को जा चुके हैं, जा रहे हैं और चले जाएंगे। ज्ञानी अज्ञानी, धनी किसी को छूट नहीं है। किन्तु जो अभी नहीं गये हैं उन्हें शरीर से बड़ी ममता है, मोह है। वे 'हम कभी नहीं मरें, यही भावना रखते हैं और शरीर को नीरोग, पुष्ट करने के उपायों में अहोरात्र लगे रहते हैं। इससे बढ़कर आश्चर्य क्या है।

'काल बली सब को डसे क्या राजा क्या रंक।
ज्ञानी चले खुशी-खुशी मूर्ख होय बदरंग।'
यतस्तु मोहमेवाहमुच्छेत्तुं नित्यमुत्सहे।
मुच्येतैतत्क्षये क्षीणरागद्वेषः स्वयं हि ना:॥

सागारधर्मामृत के उक्त श्लोक का यही आशय है कि प्रतिदिन मोह का उच्छेद करने का ही प्रयत्न करना चाहिए इसके क्षय होने पर मनुष्य के राग-द्वेष स्वयं ही क्षीण हो जाते हैं। जैसे मार्ग चलते किसी को ठोकर लग जाए तो देखकर भी हमें उसका कष्ट अनुभव नहीं होता क्योंकि उस पीड़ा के साथ हमारा रागात्मक संबंध नहीं है। किन्तु यदि हमारे स्वयं के या किसी आत्मीय के वही ठोकर लगे तो हम पीड़ा से कराह उठते हैं क्यों कि उसमें हम रागविद्ध है। राग ही मोह का स्वरूप है। अतः—

असुप्रन्तकारत्वमन्यमशुभिचन्तं च यः स्वयम्।
शुद्धे निधत्ते स्वे शुद्धमुपयोगं स शुद्ध्यति ॥ अध्यात्मरहस्य-२५

जो अपने शुद्ध आत्मामें राग-द्वेष और मोह से रहित शुद्ध उपयोग धारण करता है, वही शुद्धि को प्राप्त होता है। इस स्थितिउपलब्धि के लिए मोह-वृक्ष के मूल को ही सुखाना पड़ेगा। इसके पश्चात् कितना भी सींचने पर जैसे वृक्ष पुनः हरा नहीं होता, जीवको कर्म उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि—

सुक्कमूले जहा रुक्खे सिंचमाणे ण रोहदि।
एवं कम्मा ण रोहंति मोहणिज्जे खयं गये॥

मोहनीय कर्म का क्षय होने से समस्त कर्मों का क्षय होता है और समस्त कर्मक्षय से जन्म-मरण रूप दुःखों के सहकारणक भी अंकुर टूट जाती है जन्म-मरण का मूल परम्परित सम्बन्ध से मोह ही है।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं
कम्मं च मोहप्प भवं वयंति।
कम्मं च जाई मरणस्स मूलं
दुक्खं च जाई मरणं वयंति॥

मोह महानृप के विशाल कुटुम्ब में मित्र हैं, स्त्री है, पुत्रादि अपत्य हैं, सुखभोग की वांछाएं हैं, चल-अचल सम्पत्तिवैभवविलाससम्पन्न होकर जीवन बिताने की भावनाएं हैं। किन्तु इन सभी रागानुबन्धों को परास्त कर परमेष्ठी के पंचपदों का निरन्तर स्मरण करने से ही मुनिधर्म का यथावत् पालन हो सकता है। इससे भगवान जिनेन्द्र की पवित्र वाणी में 'सल्लेखना' कहते हैं। भावसंग्रह की यह सूक्ति इसी आशयपरक है—

मित्रे कलत्रे विभवे तनूजे
सौख्ये गृहे यत्र विहाय मोहम्
संस्मर्यते पंचपदं स्वचित्ते
सल्लेखना साभिहिता मुनीन्द्रैः॥

मोह को परास्त करने के लिए दृष्टि में सम्यक्त्व चाहिए फिर तो कागज के फूल के समान सभी विषयादि निर्गन्ध हो जाएंगे। कार्तिकानुप्रेक्षा का कथन है कि—

चइऊण महामोहं विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे।
णिव्विसयं कुणइमणं जेण सुहं उत्तमं लहइ॥ २२॥

अर्थात् यदि उत्तम सुख की प्राप्ति अभीष्ट है तो समस्त विषयों को क्षण-भंगुर जानकर मोह का संहार करो और मन को विषयों से रहित करो।

मन को जीतने का सतत अभ्यास करना चाहिए। जब मन पूर्णतया वशवर्ती हो जाए तब भी उस पर कड़ी दृष्टि रखना चाहिए। क्योंकि वशीकृत मन भी अल्प प्रमाद से पुनः विषयों की ओर जा सकता है। ऐसे में मनको आत्म-स्वरूप में लगा देना अभीष्ट है। इससे रागादि परास्त हो जाते हैं। ज्ञानार्णव का स्पष्ट वचन है कि—

मुनेर्यदि मनो मोहाद् रागाद्यैरभिभूयते।
तन्नियोज्यात्मनस्तत्वे तान्येव क्षिपति क्षणात्॥ ५२॥

योगी जन इस मोहरिपु को कभी सिर उठाने नहीं देते। वे रात-दिन प्रबुद्ध, अप्रमत्त, सावधान रहकर जागते रहते हैं। उनमें कोई इन्द्रियविकाररूप अल्पमात्र भी छिद्र नहीं होता, जिसके मार्ग से मोह प्रवेश कर सके। इसी उदात्त-भाव को ज्ञानार्णव के शब्दों में इस प्रकार कहा गया है—

भवभ्रमणविभ्रान्ते मोहनिद्रास्तचेतने।
एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम् ॥४०॥

मोक्ष : ज्ञान से या निर्मोहवृत्ति से

देखना, जानना और प्रवृत्त होना—ये मनुष्य की स्वाभाविक क्रियाएं हैं। दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन्हीं तीन वृत्तियों के नामान्तर हैं। अनादिकाल से मनुष्य देखता, जानता और दृष्ट-ज्ञात पदार्थों में प्रवृत्ति करता आया है। संसार के आत्म-भिन्न द्रव्यों में उसके दर्शन, ज्ञान और चारित्र का इतिहास अनुस्यूत है। किन्तु तत्वज्ञानी मुनि-महर्षियों ने आत्म-चिन्तन की शोध करते हुए संसार के इस दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मिथ्या, असत् अथवा मोघ मानकर सम्यक्त्व से युक्त दर्शन ज्ञान और चारित्र को ही उपादेय माना है। उनका मत है कि पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तन दशा को प्राप्त होते रहते हैं और उनमें उत्पाद और व्यय की प्रक्रिया निर्बाधरूपेण चलती रहती है। जो व्यक्ति वस्तु के ध्रौव्य रूप को नहीं जानता और उसके उत्पाद और व्यय रूप दो पर्यायों को ही सत्य मान बैठता है, उसकी दृष्टि वस्तु की वास्तविकता से असम्भिन्न है। वह खिलौनों से खेलने वाले अबोध बालक के समान है जो मिट्टी के हाथी पर सवार होकर प्रसन्न होता है और उसके टूट जाने पर फूट-फूट कर रोने लगता है। क्योंकि वस्तु के वास्तविक स्वरूप से अपरिचित होने से वह नाम और रूप को प्यार करता है। मिट्टी को एक आकार विशेष में ढाल दिया गया तो उसमें हाथी के नाम और अवयव विशिष्ट रूप ने जन्म ले लिया। इस उत्पाद मात्र को सत्ता मानने वाले को 'हाथी' देखकर प्रसन्नता हुई और अब वह ठेस लगकर टूट गया तो उसके व्यय (विनाश) से वह रोने लगा। सम्यग्दृष्टि ने भी 'हाथी' देखा और उसे टूट कर नष्ट होते भी देखा तथापि उसे उसके उत्पाद से हर्ष और व्यय से विषाद नहीं हुआ। क्योंकि वह मृत्तिका रूप उस 'गजेन्द्र' के ध्रौव्य को जानता है। वास्तव में यह जानना ही यथार्थ जानना है। इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को न जानने वाला देखकर भी नहीं देखता, जानकर भी नहीं जानता और दर्शन-ज्ञान

सम्मूढ़ होने से उसकी प्रवृत्ति तत्त्वज्ञान का संस्पर्श नहीं कर पाती। संसार में नाम और रूप की दुर्धर्ष सत्ता है। अज्ञान से नाम और रूप को वास्तविक मानने वाला उनके संयोग-वियोग में सुख-दुःख का अनुभव करता है और सम्यक्त्व से परिचलित व्यक्ति उत्पाद और व्यय में अनुस्यूत मृत्तिका को (ध्रौव्य को) जानकर समभाव धारण करता है। सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टि आत्मभिन्न पुद्गल पर्यायों में आसक्त होकर मोहावरणीय कर्म के बन्ध को प्राप्त होता है और सम्यक्त्वसहित भेदज्ञानी पुद्गल के कर्मपरिणतिमान् लीलाविलास को देखकर सम्यग् दृष्टि से मोहबन्ध अनन्तानुबन्ध का क्षय करता है। यह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में वर्तमान दृष्टिभेद, ज्ञानभेद और चारित्रभेद ही एक को मोक्ष मार्ग पर ले जाता है और दूसरे को संसार के नीच-कीच में समग्र रूपेण पंकिल कर देता है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र का पदविन्यास इसी अनुक्रमणिका की ओर संकेत करता है। बहुत से लोग ज्ञान के बोझ से दबे जाते हैं और अहंकारी हो जाते हैं। परन्तु अहंकार तो अज्ञान का लक्षण है। क्या कभी सूर्य में और अन्धकार में मैत्री हुई देखी है? जल में यदि उष्णता प्रतीत होती है तो कोई भी निःसन्देह कह देगा कि इसे तपाया गया है और जो उष्णत्व है वह पानी का नहीं, अग्नि का है। जल तो अपने मूल स्वभाव में शीतल है। इसी प्रकार ज्ञान का फल तो सम्यक्चारित्र में पर्यवसित होता है यदि वह अज्ञानविद्ध रहे, अहंकाराकुल हो तो ज्ञान कैसा? मोक्षमार्ग के विषय में 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र पढ़कर आचार्य ने मुक्ति का मार्ग ही बता दिया है। अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र परस्पर एक दूसरे से उपकृत हैं और एक की उत्पत्ति में दूसरा सहायक है। सर्वप्रथम वस्तु को सम्यक्त्वपरिच्छिन्न होकर देखना, देखने से उसका ज्ञान प्राप्त होना और जब किसी पदार्थ को देख लिया, जान लिया तब उसके प्रति कर्तव्य-बोध होना यह कार्यकारणभाव सम्बन्ध से स्वतः निष्पन्न तथ्य है। जैसे, संसार को नामरूपात्मक सत्ता को सर्वप्रथम देखना, एतदनन्तर उसका ज्ञान प्राप्त करना और ज्ञाननिष्पन्न भेदपरिणति से आत्मभिन्न यावत् पदार्थों को पर जानकर वीतराग भाव को धारण करना, और शृंखला की कड़ियों के समान उत्तरोत्तर उपकारक दर्शन, ज्ञान और चारित्र का शुद्धोपयोग करना यही मोक्षोपलब्धि का रत्न मार्ग है। सम्यक्त्व से युक्त इस दर्शन ज्ञान और चारित्र के मार्ग में मोह को, अज्ञान को, मान-कषायों और वासनाओं को कोई स्थान नहीं है। यह तत्त्वनिर्यास है। इतने पर भी आज ज्ञानवान् कहलाने वाले मोहयुक्त दिखाई देते हैं। सम्यग्-

दृष्टि होकर स्व-परविवेक भूलकर असम्यक्त्व को कण्ठहार बनाने वालों की पंक्ति बड़ी है। ऐसे ज्ञान से मोक्ष नहीं मिल सकता। क्योंकि चारित्रशून्य 'ज्ञान पंगु है, क्रिया अन्धी है'। यदि ज्ञानवान् व्यक्ति चारित्रवान् भी है तो उसकी ज्ञानसम्प्राप्ति श्लाघनीय है और यदि ज्ञानी होकर भी मोहमग्न है तो मुक्तिपथ को वह पा नहीं सकता। अतः प्रथम मोहरिपु का उच्छेद आवश्यक है। क्योंकि—

'अज्ञानान् मोहिनो बन्धो नाज्ञानाद् वीतमोहतः ।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान् मोहिनोऽन्यथा ॥'

मोहयुक्त अज्ञान से बन्ध होता है। मोहरहित अज्ञान बन्ध का कारण नहीं है। मोहरहित अल्पज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है और मोहयुक्त ज्ञान से मुक्ति नहीं मिलती। कहावत है कि 'क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति' नवनीत सुवर्ण के पात्र में रखा जाए तो दूषित नहीं होता किन्तु यदि उसे पीतल में रख देंगे तो उसका रंग उतरकर नवनीत को विषाक्त कर देगा। ज्ञान तो निर्मोहत्व रूप पात्र में रखने पर ही क्रियाशील होता है। ज्ञान होते हुए यदि उससे शुद्धोपयोग नहीं हुआ तो ज्ञानोपार्जन का श्रम खर पर चन्दन भार के अतिरिक्त क्या है ? ज्ञानवान् सोचता है—

'न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥'

'जब मेरी (आत्मा की) मृत्यु नहीं है तब भय किस बात का ? जब मेरी आत्मा रोगमुक्त है तो व्यथा किसको, कैसी ? अरे ! न तो मैं बालक हूँ, न वृद्ध हूँ और न युवा हूँ । यह सब तो पुद्गल का खेल है।' परिपक्व सम्यग्ज्ञानी को यह दृष्टिविवेक प्राप्त होता है और ज्ञानसम्पदा से अतिशय आरामभाग न होकर भी ऐसे अल्पज्ञानी भी 'याद करत तुष माष को उतर गये भव पार' वे भेदविज्ञान के लिए कठिन शास्त्रों का ज्ञान न रखते हुए भी उड़द के दाने पर लगा हुआ छिलका उड़द से अलग है, वह जानते हैं तथा घड़े पर लाख के समान आत्मा और शरीर को पृथक देखकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि मोक्ष प्राप्ति में वीतरागता ही सर्वोपरि है। ज्ञान तो सहायक है, मुख्य नहीं। यव (जौ) के दाने पर छिलका दृढ़ता से चिपका हुआ है और आत्मा शरीर से अभिन्न प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में जैसे जौ से उसका छिलका अलग है उसी प्रकार शरीर और आत्मा भिन्न हैं किन्तु कर्मपरिणाम से देहपंजर में आत्मशुक को बन्धनग्रस्त होना पड़ता है। आत्मदर्शी मुनि सम्पूर्ण दुःखों को प्रदान करने वाले इस पिण्ड शरीर से कर्मनिर्जरा

करके अपने को अनन्तानुबन्ध से मुक्त कर लेते हैं। जन्म-मृत्यु का जम्बाल उन्हें फिर स्पर्श नहीं करता। मृत्यु के द्वार पर जाते हुए विषयासक्त चित्त डरता है जिसने पुनर्भव को आत्मशोध से जीत लिया उसे भय क्या? मृत्यु उन्हें ही डराती है, जो रागग्रस्त हैं, कामासक्त हैं। जो निवृत्तविषयेन्द्रियवासनाकषाय हैं उनका आत्मा नित्य अमृतस्नान करता है। उन्हें किसी पदार्थ से मोह नहीं होता। कहा भी है 'ममेति द्व्यक्षरो मृत्युरमृतं न ममेति च' संसार के पदार्थों के प्रति ममकार ही मत्यु है और ममत्व का नाश ही अमरता है। अमरता वीतरागता का परिणाम है। सच्चा वीतरागी तो मोक्ष भी नहीं चाहता। क्योंकि इच्छा चाहे भौतिक हो या आत्मिक, है तो 'राग' ही। अतः सर्वत्यागी मुनि मोक्ष की इच्छा नहीं करते हैं। वह तो अशेष कर्म झर जाने से आत्मा की निर्मुक्त अवस्था है जिसे निःपृस्ह (वीतराग) मुनि पा लेते हैं। आचार्य अकलंक देव ने 'यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।' जिसको मोक्ष में भी इच्छा नहीं है, वही मोक्ष को प्राप्त करता है— कहकर वीतरागता के अत्यन्त ऊंचे आदर्श की भव्य झांकी प्रस्तुत की है। इस दृष्टि से अत्यधिक पढ़ना, दान देना, उग्र तपश्चर्या में लीन रहना इत्यादि कर्तृत्वाभिमान उत्पन्न करने वाले कर्म भी सीधे मोक्षमार्गप्रकाशक नहीं कहे जा सकते। कहते हैं—

'बहुयइं पढियइं मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कुजि अक्खर तं पढहु शिवपुर गम्मइ जेण॥'

अर्थात् इतना अधिक पढा कि तालु सूख गया फिर भी आभ्यन्तर अन्धकार मिटा नहीं, अतः पठितमूर्ख ही रहा। अरे! उस एक ही अक्षर को पढ कि जिससे शिवपुरी (मोक्ष) जा सके। ऐसे शब्दपण्डितों के लिए ही 'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः' (शास्त्रों को पढकर भी मूर्ख रह जाते हैं) कहा गया है। क्योंकि यह शास्त्राध्ययन भी अपने आप में मूल्यवान् नहीं है अपितु दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय करने में सहायक होने से ही मूल्यवान् हो सकता है। कर्म का मूल्य उसके परिणाम और उपयोग से लगाया जाता है। जैसे एक व्यक्ति दिन भर कड़ी धूप में कुदाल चलाता है और दूसरा वातानुकूलित कक्ष में बैठकर केवल हस्ताक्षर करता है। कार्य को यदि श्रमानुपात से विभक्त किया जाए तो मजदूर का श्रम अधिक है किन्तु उपयोग की दृष्टि से हस्ताक्षरों का महत्त्व उस से कहीं अधिक है। एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के हस्ताक्षरों से छपा कागज 'नोट' (मुद्रा) बन जाता है और लकड़हारे का श्रम उस उच्चता का स्पर्श भी नहीं कर सकता। यह उपयोग का अन्तर ही परिणामभेद से कोटिभेद को प्राप्त करता है। मुनि चारित्र पालन

करते हुए शास्त्र-स्वाध्याय के परिणाम को शुद्धोपयोग में परिवर्तित करते हैं और कोरे शुकपाठी शास्त्री आजन्म पंक्तियों के परिष्कार में ही लगे रहकर शास्त्राध्ययन से प्रादुर्भाव्य परिणाम से वंचित रहते हैं। एक कोयले को जलाकर उसकी राख कर देता है और दूसरा उसे कूट-कूट कर राख में परिवर्तित कर देता है। कोयले की राख तो दोनों ने की किन्तु एक ने उस कोयले में अग्नि प्रज्वलित कर अपने अंगों को तपाया और दूसरे ने तो न उसमें अग्नि के दर्शन किये और न ताप का अनुभव किया। ऐसा व्यक्ति 'विदग्ध' कैसे हो सकता है ? ज्ञान, जो शास्त्र-स्वाध्याय से अर्जित किया जाता है, मोह क्षय के लिए है न कि कोरे वितण्डावाद अथवा स्वयं में कर्तृत्वाभिमान संवर्धन के लिए। यदि ज्ञानोपास्ति से भी मोह-पराभव नहीं हुआ तो उपासक के लिए यह 'कोयला कूटने' जैसी बात हुई। उनका श्रम, अज्ञान तो दूर हुआ नहीं और शास्त्र-भार वहन करना पड़ा, यह अलग। इसलिए आचार्यों ने उन दिग्भ्रान्त बालिशों को मोक्ष का अधिकारी (पात्र) नहीं बताया। कहते हैं—

'ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा ततः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥'

कर्तृत्वाभिमानी, अमुक के सुखों का कर्ता मैं हूं, अमुक को कष्ट पहुंचाने का सामर्थ्य मुझमें है, मैं चाहूं तो समुद्र को मरु और मरु को समुद्र में बदल दूं, इत्यादि अज्ञान से सोचता है। वह पर-परिणति में अपने को फंसाये रखता है और संसार में घटित होने वाले परिवर्तनों के अनुकूल-प्रतिकूल पक्षों को अपने द्वारा कृतक मानता है। ऐसे खोये हुए को आत्मोपलब्धि नहीं हो सकती और सामान्य जनों की गति के समान ही उनकी भी गति होती है। वे ऊंचे उठ नहीं सकते, ऊंचा आदर्श स्थापित नहीं कर पाते और दुर्विलघ्य शिखरों पर पैर रखने का साहस उनमें नहीं होता। उन मोह-मग्नों की दशा उन व्यक्तियों के समान है जो मन्दिर में उपासना के लिए बैठे-बैठे मनमें नर्तकी के नृत्य को न देख पाने की विवशता पर खिन्न हो रहे हैं। इस दृष्टि से वह गृहस्थ, जो मोह से रहित है उस अनगार किन्तु मोहपराभूत मुनि से श्रेष्ठ है। क्योंकि—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो, नैव मोहवान्।
अनगारो, गृही श्रेयान् निर्मोहो, मोहिनो मुनेः ॥'

कषायकर्शन के विना कायकर्शन (शरीर को कृश करना) निष्फल है। शुद्धोपयोग के विना शास्त्रश्रम व्यर्थ है। मोहपराभव के विना ज्ञानवान् कहलाना

कम्म है। विद्या की उपासना मुक्ति के लिए की जाती है। जो मोक्ष तक पहुंचाने में असमर्थ है, वह विद्या नहीं अविद्या है। जहां मोह की सीमा समाप्त होती है वहां से मुक्तिपुरी का आरम्भ होता है।

जीव जन्म और मृत्यु के कभी समाप्त न होने वाले बन्धन में पड़ा अकुला रहा है। 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्' फिर जन्म और फिर वही मृत्यु। गर्भावस्था के अनन्त कष्टों को सहन कर जन्म लेना और जीवनभर अश्रान्त भाग दौड़ के बाद शारीरिक तथा मानसिक पीडाओं की अपार वेदना को सहते हुए यहां से कूच कर जाना। प्रतिदिन उन्हीं कल के बासी विषय-कषायों का आस्वादन करना और कर्मपरिणामों के कभी समाप्त न होने वाले घुमचक्कर में परिभ्रमण करते रहना। पीडाओं का अन्त नहीं और पुनर्जन्म की कभी समाप्त न होनेवाली परंपरा को विश्राम नहीं। सभी योनियों के जीवों के साथ अनन्त अनादि काल से यही होता रहा है और यही होता रहेगा। मनुष्य पर्याय प्राप्त करने वाले मन और बुद्धि के खजाने जीव के लिए इन सामान्य नियमों के अधीन सदैव जन्म मरण की चक्की में आयुष्य का अन्न डालते जाना न उसकी शोभा की बात है और न उचित है। उसे इस अधमस्थिति से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। मानव की सतत चिन्तनधारा ने, उसकी चारित्रमूलक जीवनचर्या ने तीव्रकषायों और उग्र विषय वासनाओं से निरन्तर प्रज्वलित हृदय में उस आलोक का शीतल उपलेप लगाया जिससे जन्म और मृत्यु के दुराधर्ष मोर्चे को 'सर' कर लिया गया। मनुष्य ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में चार पुरुषार्थों की शोध की। जीवन के लिए उपयोगी इन चारों पुरुषार्थों के मूल में 'धर्म' स्थापना की। सर्व प्रथम धर्म और धर्म से, धर्मानुकूल वृत्ति से अर्थ और काम का सेवन। धर्माचरण द्वारा ही (अहिंसा सत्य आदि) उत्तम व्रतों का परिपालन करते हुए मुक्ति प्राप्त करना। इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष को सर्वोपरि पुरुषार्थ इस लिए स्वीकार किया गया कि इस की प्राप्ति के बाद संसार में कुछ भी प्राप्य नहीं रह जाता और इससे प्राप्त होने वाले आनन्दमय जीवन के समक्ष सांसारिक क्षुद्र वासनाओं से मिलने वाले सुखाभासों का महत्त्व अकिंचन है। यही पुनरावर्तन को समाप्त करता है।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सम्यक्त्व से युक्त दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों समवेत होकर मोक्षमार्ग के साधक हैं। जो मिथ्यादृष्टि है

उसे मोक्ष मिलना दुर्लभ है। आत्मा को जड़शरीर से पृथक् देखना, जानना और ऐसा जानकर, देखकर सम्यक् चारित्रमार्ग पर चलना मुक्तिकारक है। वीतराग मुनि मोक्षगामी इसी लिए होते हैं कि वे रत्नत्रय को धारण कर इस संसार के नश्वर विषयों से, कषायों से अपने को सर्वथा तटस्थ रखते हैं और 'तुषमाष' न्याय के अनुसार शरीर और जीव को भिन्न जान लेते हैं। इस भेदज्ञान से ही चारित्र विशुद्धि होती है और चारित्रविशुद्ध को ही मोक्ष होती है। इसी लिए 'चारित्तं खलु धम्मो' चारित्र को धर्म का स्वरूप माना गया है—धार्मिक शब्द चारित्र सम्पन्न व्यक्ति का पर्याय है। केवल ग्रन्थस्वाध्याय करने से अथवा मोक्षमार्ग को निरूपित करने वाली उपपत्तियों को पढ़ लेने, अथवा सुन लेने से मोक्ष नहीं होती। मिट्टी, कुलाल, कुलालचक्र का परिज्ञान होने मात्र से कलश नहीं बन जाता इसके लिए चक्र को घुमाना और कलशनिर्माणविधि की सक्रिय जानकारी अपेक्षित है। इसी प्रकार 'मोक्षमार्गप्रकाश' पढ़ने से नहीं, उसमें निरूपित आचार-संहिताओं को क्रियान्वित करने से मुक्ति मिलती है। जिसका मन संसार के वैकारिक पदार्थों में निमग्न है, उनकी प्राप्ति से हर्ष और वियोग से दुःख अनुभव करता है, उसके लिए स्वानुभवसंवेद्य आत्मसुख की प्राप्ति शशविषाण के समान है। 'निर्ग्रन्थ' मुनि, जो समस्त बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थियों को खोलकर वीतराग मुद्रा धारण करते हैं, अपने उत्तम गुणों, महाव्रतों और चारित्रपालन से इस देवदुर्लभ पद को प्राप्त कर लेते हैं। मोक्षप्राप्ति के अभिलाषुक को कर्मों के पर्वत तोड़ने पड़ते हैं। सर्वारम्भपरित्याग से उनकी निर्जरा करनी होती है। विशुद्ध आत्मतत्व में ध्यानावस्थित होकर ध्यान, ध्याता और ध्येय को एकाकार अनुभव करना पड़ता है। यह आनन्द की सर्वोच्च स्थिति है। कभी समाप्त न होने वाला आनन्द ही मोक्षसुख है। क्योंकि वह संसार सुखों से उत्कृष्ट है, स्थायी है, समरस है इसीलिए उसकी प्राप्ति के प्रयत्न उन्नत आत्माएं करती रहती हैं। कहा भी है—

'आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं वीर्यं परमसूक्ष्मता।
एतदात्यन्तिकं यत्र स मोक्षः परिकीर्तितः॥'

अर्थात् अत्यन्त विशेषण युक्त आनन्द, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य और परम सूक्ष्मता जहां पाई जाएं वही मोक्ष है। संसार सुखों में भी ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द की स्थिति रहती है किन्तु वह आत्यन्तिक नहीं होती केवल आपातरमणीय होती है। मोह का नाश होने और वीतरागत्व की प्राप्ति होने पर ही वह अत्यन्तधर्मा

आनन्द की उपलब्धि होती है। बिना मोहरिपु को पराजित किये बन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता।

मोह अज्ञान और नाना दुःखों को उत्पन्न करता है। वह इस भव में तथा परभव में निरन्तर क्लेशदायी होता है किन्तु ज्ञान सुखों की अनन्तता के लिए कारण होता है और पुनर्भव को समाप्त कर आनन्द प्रदान करता है। मोहक्षय के बिना द्वादशांग का अध्ययन, स्वाध्याय और ज्ञान पराक्रमरहित हैं। अपनी आत्मा को 'थर्मामीटर' लगाकर देखो, मोह कितना 'डिग्री' है। मोह को 'नार्मल' ही नहीं, निश्शेष किये बिना आत्मराज्य की नीरोगता दुर्लभ है। मोहनृपति की प्रजाओं को मोक्षराज्य में प्रवेश की अनुमति त्रिकाल में नहीं मिल सकती। मोह के रज्जुपाश में से मुक्त हुए बिना 'मुक्ति' की चरितार्थता कहां! अतः आचार्योदित सर्वकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' सूत्र को हृदय में रखकर अशेष कर्मरिपुओं का क्षय करो और मुक्त हो जाओ।

दीक्षा ग्रहण क्रिया

दीक्षाग्रहणक्रिया

सिद्धयोगिबृहद्भक्तिपूर्वकं लिंगमर्प्यताम् ।
लुंचाख्यानाग्न्यपिच्छात्म क्षम्यतां सिद्धभक्तितः ॥

अथ दीक्षाग्रहणक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि 'सिद्धानुद्धूत' इत्यादि ।

अथ दीक्षाग्रहणक्रियायां योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोमि—"थोस्सामि गुण-धराणं' मित्यादि, 'जातिजरोरुरोग' इत्यादि वा । अनन्तरं लोचकरणं, नामकरणं, नाग्न्यप्रदानं पिच्छप्रदानं च । अथ दीक्षानिष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि ।

दीक्षादानोत्तरकर्तव्यम्—

पंचयमहव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा ।
पंचे विंदियरोहा छब्भो आवासया लोचो ॥ ४ ॥
अच्चेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव ।
ठितिभोयणे भत्तं मूलगुणा अट्ठवी साधुः ॥ ५ ॥ (मूलाचार)

अष्टाविंशतिमूलगुणा :—

पंचमहाव्रतानि—अहिंसा, सत्यम् अचौर्यम्, ब्रह्मचर्यधारणम् अपरिग्रहश्च ।

पंच समितय—ईर्या-भाषा-एषणा-उत्सर्ग-आदाननिक्षेपणाख्याः ।

पंचेन्द्रियाणां निरोधः (इन्द्रियजयश्च) स्पर्श (त्वक्) रस (जिह्वा) घ्राण (नासा) चक्षुः श्रोत्राणि पंच ।

सप्त प्रकीर्णकानि—अस्नानम्, अदन्तघर्षणम्, अचेलकत्वम्, भू-शयनम्, स्थितिभोजनम्, एकभुक्तिः, केशलुंचनम् ।

षडावश्यकक्रियाः—

सामायिकम्, स्वाध्यायः, प्रतिक्रमणम्, स्तुतिः, वन्दनम्, कायोत्सर्गश्च ।

इत्यष्टाविंशतिमूलगुणान् निक्षिप्य दीक्षिते ।
संक्षेपेण सशीलादीन् गणी कुर्यात् प्रतिक्रमम् ॥

लोचक्रिया

लोचो द्वित्रिचतुर्मासैर्वरो मध्योऽधमः क्रमात् ॥
लघुप्राग्भक्तिभिः कार्यः सोपवासप्रतिक्रमः ॥

अथ लोचप्रतिष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि ।
'तव सिद्धे' इत्यादि ।

अथ लोचप्रतिष्ठापनक्रियायां योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोमि ।
अनन्तरं स्वहस्तेन परहस्तेनापि वा लोचः कार्यः ।

अथ लोचनिष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि ।
'तव सिद्धे' इत्यादि । अनन्तरं प्रतिक्रमणं कर्तव्यम् ।

बृहद् (मुनि) दीक्षाविधिः

दीक्षकः पूर्वदिने भोजनसमये भाजनादितिरस्कारविधिं विधाय आहारं गृहीत्वा चैत्यालये आगच्छेत् । ततो बृहत्प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापने सिद्धयोगभक्तिं पठित्वा गुरुपार्श्वे प्रत्याख्यानं सोपवासं गृहीत्वा आचार्यशांतिसमाधिभक्तिं पठित्वा गुरोः प्रणामं कुर्यात् ।

अर्थ—दीक्षार्थी दीक्षा के पूर्व दिन भोजन के समय में भोज्यपात्रों का परित्याग करके (अर्थात् किसी प्रकार के सौवर्ण, राजत, कांस्यप्रभृति पात्र मात्र में भोजन न करने का व्रत लेकर) पाणिपात्र में ही आहार लेकर चैत्यालय में प्रवेश करे। इसके बाद बृहत्प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापन में सिद्धभक्ति, योगभक्ति को पढकर गुरु के पास उपवाससहित प्रत्याख्यान ग्रहण कर, पश्चात् आचार्य-शान्ति-समाधि-भक्ति पढकर गुरु को प्रणाम करे।

अथ दीक्षादिने दीक्षादातृजनः शान्तिकगणधरवलयपूजादिकं यथाशक्ति कारयेत् । अथ दाता तं स्नानादिकं कारयित्वा यथायोग्यालंकारयुक्तं महामहोत्सवेन चैत्यालये समानयेत् । स देवशास्त्रगुरूणां पूजां विधाय वैराग्यभावनापरः सर्वैः सह क्षमां कृत्वा गुरोरग्रे तिष्ठेत् । ततो गुरोरग्रे संघस्याग्रे च दीक्षायै याच्ञां कृत्वा तदाज्ञया सौभाग्यवतीस्त्रीविहित–

स्वस्तिकोपरि श्वेतवस्त्रं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वदिशाभिमुखः पर्यंकासनं कृत्वा आसीत। गुरुश्चोत्तराभिमुखो भूत्वा संघं च परिपृच्छ्य लोचं कुर्यात्।

अर्थ—दीक्षाविधि के दिन दीक्षाविधि सम्पन्न कराने वाले जन यथाशक्ति शांतिक एवं गणधरवलय इत्यादि का पूजन करावें। इसके पश्चात् दीक्षादाता दीक्षार्थी को स्नान आदि करवाकर यथायोग्य वस्त्रालंकार पहनाकर महा-महोत्सव के (समारोह के) साथ चैत्यालय में ले आवे। वहां दीक्षार्थी देव, शास्त्र और गुरु की पूजा करके वैराग्य भाव से आपूर्यमाण होकर सर्वगृहस्थों एवं स्वकुटुम्बजनों से क्षमायाचना करे एवं स्वयं सब को क्षमाप्रदान करे। पश्चात् गुरु के सम्मुख आकर बैठ जाए। अनन्तर गुरु और संघ के सम्मुख दीक्षा के लिए याचना करे। (अनुमति मिलने पर) गुरु की आज्ञा से सौभाग्यवती महिला द्वारा बनाये गये चावल के स्वस्तिक पर श्वेत वस्त्र डालकर उस समय पूर्व की ओर मुख करके पर्यंकासन (पद्मासन) से बैठ जाए। और गुरु उत्तराभिमुख होकर तथा संघ को पूछ कर (संघ से अनुमति लेकर) केशलोंच करे।

सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढे

यदि योगभक्ति पढने जितना समय न हो तो यह पाठ बोले—

'बृहद्दीक्षायां लोचस्वीकारक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं श्रीमद्‌योगभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्। इति पठित्वा णमोकारमन्त्रस्य नववारान् जपं कुर्यात। केशलुंचनसमये सिद्धभक्तिं च वदेत्।

शान्तिमन्त्रः

'ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये श्रीशान्तिनाथाय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्व-क्षामडामरविनाशाय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ-सि-आ-उ-सा अमुकस्य (अत्र दीक्षाग्रहीतु-र्नाम गृह्णीयात्) सर्वशान्तिं कुरु कुरु स्वाहा।' इत्यनेन मन्त्रेण गन्धोदकादिकं त्रिवारं मन्त्रयित्वा शिरसि निक्षिपेत्। शान्तिमन्त्रेण गन्धोदकं त्रिःपरिषिच्य मस्तकं वाम-हस्तेन स्पृशेत्।

हिन्दी—इस शान्तिमंत्र का पाठ करते हुए आचार्य गन्धोदक को तीन बार अभिमंत्रित करके दीक्षक के मस्तक पर डाले और शान्ति मंत्र से गन्धोदक को

तीन बार मस्तक पर सिंचित करने के पश्चात् दीक्षक के मस्तक को अपने बायें हाथ से स्पर्श करे।

वर्द्धमानमन्त्रः

'ॐ णमो भयवदो वड्ढमाणस्स रिसहस्सचक्कं जलंतं गच्छई आयासं पायालं लोयाणं जये वा विवादे वा थंभणे वा रणंगणे वा रायंगणे वा मोहेण वा सव्वजीवसत्ताणं अपराजिदो भवदु रक्ख रक्ख स्वाहा।' इति वर्द्धमानमंत्रः।

ततो दध्यक्षतगोमयभस्मदूर्वाङ्कुरान् मस्तके वर्धमानमंत्रेण निक्षिपेत्।

हिन्दी—इस वर्धमान मंत्र को बोलकर आचार्य दीक्षक के मस्तक पर दही, अक्षत, गोमयभस्म और दूब के अंकुरों को डाले।

मन्त्रः

'ॐ णमो अरहंताणं रत्नत्रयपवित्रीकृतोत्तमांगाय ज्योतिर्मयाय मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाय असिआउसा स्वाहा।'

इमं मन्त्रं पठित्वा भस्मपात्रं गृहीत्वा कर्पूरमिश्रितं भस्म शिरसि निक्षिप्य निम्नमन्त्रमुच्चार्य प्रथमं केशोत्पाटनं कुर्यात्।

हिन्दी—इस मन्त्र को पढकर भस्मपात्र को हाथ में लेकर कपूरमिश्रित भस्म को मस्तक पर डालकर निम्नलिखित मंत्र का उच्चारण करते हुए केशलोंच करे।

मन्त्रः

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं असिआउसा स्वाहा। पुनः—

ॐ ह्रां अर्हद्भ्यो नमः।

ॐ ह्रीं सिद्धेभ्यो नमः।

ॐ ह्रूं पाठकेभ्यो नमः।

ॐ ह्रः सर्वसाधुभ्यो नमः।

इत्युच्चरन् गुरुः स्वहस्तेन पंचवारान् केशान् उत्पाटयेत्।

हिन्दी—इस प्रकार उच्चारण करते हुए आचार्य अपने हाथ से दीक्षक के केशों को पांच बार उत्पाटन करे। निम्न पाठ पढ़े।

बृहद्दीक्षायां लोचनिष्ठापनक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं श्रीमत्सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्। इति। नव वारान् महामंत्रं जपेत्।

लघुसिद्धभक्तिः

इच्छामि भन्ते सिद्धभत्ति काउस्सग्गोकओ तस्स लोचेउं सम्मणाण सम्मदंसण सम्मचारित्तजुत्ताणं अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काणं अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोयमच्छयंमि पयट्ठियाणं तव सिद्धाणं संजम सिद्धाणं णय सिद्धाणं अतीताणागदवट्टमाणकालत्तय सिद्धाणं सव्वसिद्धाणं सयाणिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वन्दामि णमंस्सामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाओ सुगइगमणं समाहिमरणं जिनगुणसम्पत्ति होउ मज्झं। इति।

ततः शीर्षं प्रक्षाल्य गुरुभक्तिं दत्वा वस्त्राभरणयज्ञोपवीतादिकं परित्यज्य तत्रैवावस्थाय दीक्षां याचेत।

हिन्दी—इसके पश्चात् दीक्षा ग्रहण करने वाला अपने शिर को धोकर गुरुभक्ति पढकर वस्त्र, आभूषण, यज्ञोपवीत आदि का परित्याग कर वहीं स्थित होकर गुरु महाराज से दीक्षा की प्रार्थना करे।

'ततो गुरुः शिरसि श्रीकारं लिखित्वा'

हिन्दी—तब आचार्य (गुरु महाराज) दीक्षक के मस्तक पर श्रीकार ('श्री' ऐसा शब्द) लिखकर [निम्नलिखित मन्त्र का १०८ बार जाप्य देवें]

मन्त्रः—'ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा ह्रीं स्वाहा।

ततो गुरुस्तस्यांजलौ केसरकर्पूरश्रीखण्डेन श्रीकारं कुर्यात्।

हिन्दी—इसके पश्चात् गुरु दीक्षक की अंजलि में केसर, कपूर और श्रीखण्ड से 'श्री' कार लिखे। पश्चात् श्रीकारस्य चतुर्दिक्षु—

रयणत्तयं च वन्दे चउवीसजिणं तहा वन्दे।
पंच गुरूणं वन्दे चारणजुगलं तहा वन्दे॥

इति पठन् अंकान् लिखेत्। पूर्वे ३ दक्षिणे २४ पश्चिमे ५ उत्तरे २ लिखित्वा—

'सम्यग्दर्शनाय नमः सम्यग्ज्ञानाय नमः सम्यक्चारित्राय नमः।' इति पठन् तन्दुलैरंजलिं पूरयेत्। तदुपरि नालिकेरं पूगीफलं च धृत्वा सिद्धचारित्रयोगभक्तिं पठित्वा व्रतादिकं दद्यात्।

हिन्दी—आचार्य दीक्षक की अंजलि में 'श्री' लिखने के पश्चात् 'श्रीकार' के चारों दिशाओं में 'रयणत्तयं च वन्दे' इस गाथा को पढ़कर पूर्व में ३ दक्षिण में २४ पश्चिम में १ उत्तर में २ अंकों को लिखकर 'सम्यग्दर्शनाय नमः' इत्यादि पढ़कर अंजलि को चावलों से पूरित कर दे और उसके ऊपर नारियल और सुपारी रखकर सिद्ध-भक्ति, चारित्रभक्ति और योगभक्ति पढ़कर व्रत आदि देवे।

अथ सिद्धभक्तिचारित्रभक्तियोगभक्तिपाठः—

'वदसमिदिंदियं रोधो लोचो आवासयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणंठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥'

पंचमहाव्रतपंचसमितिपंचेन्द्रियरोधलोचषडावश्यकक्रियादयोऽष्टाविंशतिमूलगुणाः, उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि दशलाक्षणिको धर्मः, अष्टादश शीलसहस्राणि चतुरशीतिलक्षगुणास्त्रयोदशविधं चारित्रं, द्वादशविधं तपश्चेति सकलसम्पूर्णमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुसाक्षिकं सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं समारूढं ते मे भवतु ।

(यह उपरोक्त पाठ तीन बार पढ़कर शिष्य को व्रतों की व्याख्या समझा कर व्रत दे और शान्तिभक्ति का पाठ करे।)

'शान्तिभक्ति' पाठ के अनन्तर आशीर्वाद—

'धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद् भवभृतां धर्मस्य मूलं दया
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म ! मां पालय ॥'

इति आशीःश्लोकं पठित्वा अंजलिस्थतण्डुलादिकं दात्रे प्रदेयम्।

हिन्दी—इस प्रकार आशीर्वाद पढ़कर अंजलिस्थित तण्डुल आदि दातार को देवे।

अथ षोडशसंस्कारारोपणम्

१ अयं सम्यग्दर्शनसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
२ अयं सम्यग्ज्ञानसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
३ अयं सम्यक्चारित्रसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
४ अयं बाह्याभ्यन्तरतपःसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।

५ अयं चतुरंगवीर्यसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
६ अयं अष्टप्रवचनमातृकासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
७ अयं शुद्धयष्टकोष्टसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
८ अयं अशेषपरिषहजयसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
९ अयं त्रियोगासंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
१० अयं त्रिकरणासंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
११ अयं दशासंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
१२ अयं चतुःसंज्ञानिग्रहशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
१३ अयं पञ्चेन्द्रियजयशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
१४ अयं दशधर्मधारणशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
१५ अयमष्टादशसहस्रशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।
१६ अयं चतुरशीतिलक्षगुणसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु।

(इति प्रत्येकमुच्चार्य शिरसि लवंगपुष्पाणि निक्षिपेत्)

इन प्रत्येक मंत्र को बोलते हुए आचार्य दीक्षक के मस्तक पर लवंगपुष्पों का क्षपण कर संस्कार करे। फिर निम्न मंत्र पढ़कर मस्तक पर पुनः पुष्प डाले—

'ॐ णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं। ॐ परमहंसाय परमेष्ठिने हंस हं स हं हां हं हीं हैं हः जिनाय नमः जिनं स्थापयामि सं वौषट्।

अथ गुर्वावलिः

स्वस्ति श्री महावीरनिर्वाणाब्दे ७४१० तमे मासानामुत्तमे मासि······पक्षे······तिथौ······वासरे मूलसंघे सरस्वतीगच्छे सेनगणे श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यपरम्परायां गुरुश्री··········तच्छिष्यश्री·······शिष्यस्य शिष्यः··········नामधेयस्त्वमसि।'[1]

अथ पिच्छोपकरणप्रदानम्

ॐ णमो अरहंताणं। भो अन्तेवासिन्! षड्जीवनिकायरक्षणाय मार्दवसौकुमार्यरजःस्वेदाग्रहलघुत्वपंचगुणोपेतमिदं पिच्छोपकरणं गृहाण गृहाण। इति पिच्छिकादानम्।

---

१. रिक्त स्थानों पर मास, पक्ष और तिथि ग्रहण करना अभीष्ट है। 'आचार्यपरम्परायां' में गुरुओं की नामावली शिष्यपरम्परानुसार बोलते हुए दीक्षार्थी का मुनिपद से अभिधेय नाम पढ़ना चाहिए।

अथ शास्त्रदानम्

ॐ णमो अरहंताणं। मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाय द्वादशांगश्रुताय नमः। भो अन्तेवासिन्! इदं ज्ञानोपकरणं गृहाण गृहाण। इति शास्त्रदानम्।

अथ शौचोपकरणप्रदानम्

ॐ णमो अरहंताणं। रत्नत्रयपवित्रीकरणांगाय बाह्याभ्यन्तरमलशुद्धाय नमः। भो अन्तेवासिन्! इदं शौचोपकरणं गृहाण गृहाण। इति गुरुः वामहस्तेन कमण्डलुं दद्यात्।

लघुसमाधिभक्तिः

'इच्छामि भन्ते समाहिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सा लोचेउं रयणत्तयरूप-वपरमप्पज्झाण लक्खणं समाहिभत्तीये णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वन्दामि णम-स्सामि दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुण-सम्पत्ति होउ मज्झं।'

ततो नवदीक्षितो मुनिर्गुरुभक्त्या गुरुं प्रणम्य अन्यान् मुनीन् प्रणम्योप-विशति। यावद् व्रतारोपणं न भवति तावदन्ये मुनयः प्रतिवन्दनां न ददति।

ततो दातृप्रमुखा जना उत्तमफलानि अग्रे निधाय तस्मै नमोऽस्त्वि'ति प्रणामं कुर्वन्ति।

हिन्दी—समाधि भक्ति पढने के पश्चात् नवदीक्षित मुनि 'गुरुभक्ति' से गुरु को प्रणाम कर एवं अन्य मुनियों को प्रणाम कर बैठ जाए। जब तक व्रतों का आरोपण नहीं हो, तब तक अन्य मुनि उस नवदीक्षित मुनिराज को प्रतिवन्दन नहीं करें। ततः पश्चात् दाताओं में प्रधान मनुष्य उत्तमोत्तम फलों को नवदीक्षित मुनि के सम्मुख रखकर 'नमोऽस्तु' कहकर प्रणाम करे।

ततस्तस्मिन् पक्षे द्वितीयपक्षे वा सुमुहूर्ते व्रतारोपणं कुर्यात्। तदानीं रत्नत्रयपूजां निर्वर्त्य पाक्षिकप्रतिक्रमणपाठः पठनीयः। तत्र पाक्षिकनियमग्रहणात् पूर्वं यदा 'वदसमिदी' त्यादि पठ्यते तदा पूर्ववत् व्रतादि दद्यात्। नियमग्रहणसमये यथा-योग्यमेकं तपो दद्यात्। (पल्यविधानादिकं) दातृप्रभृति श्रावकेभ्योऽपि एकमेकं तपो दद्यात्। ततोऽन्ये मुनयः प्रतिवन्दनां ददति।

हिन्दी—इसके पश्चात् उसी पक्ष में अथवा द्वितीय पक्ष में शुभ मुहूर्त में व्रतों का आरोपण करे। उस समय 'रत्नत्रय' पूजा के अनन्तर पाक्षिक प्रतिक्रमण

पाठ पढना चाहिए। पाक्षिकनियमों के ग्रहण समय से पूर्व जब 'व्रतसमिति' इत्यादि पाठ किया जाए तब पूर्ववत् व्रत इत्यादि देने चाहिए। नियमों के ग्रहण करते समय यथायोग्य एक तप देना चाहिए। 'दाता' इत्यादि श्रावकों को भी एक-एक तप देना चाहिए। इसके पश्चात् मुनि प्रतिवन्दन करते हैं।

मुखशुद्धिमुक्तकरणे विधिः

अथोदशसु पंचसु त्रिषु वा कच्चोलिकासु लवंगैलापूगीफलादिकं निक्षिप्य ताः कच्चोलिका गुरोरग्रे स्थापयेत्। मुखशुद्धिमुक्तकरणपाठक्रियायामित्याद्युच्चार्य सिद्धयोगाचार्यशान्तिसमाधिभक्तीर्विधाय ततः पश्चात् मुखशुद्धिं गृह्णीयात्।

हिन्दी—तेरह, पांच अथवा तीन कटोरियों में लवंग, एला, सुपारी आदि रखकर उन कटोरियों को गुरु के सम्मुख रख दे। नवदीक्षित मुनिमहाराज 'मुख शुद्धिमुक्तकरणपाठक्रियायाम्' इत्यादि उच्चारण करते हुए सिद्ध-योग-आचार्य शान्ति समाधि-भक्ति पाठ करके इसके पश्चात् मुखशुद्धि को ग्रहण करें।

अथ क्षुल्लकदीक्षाविधिः

अथ लघुदीक्षायां सिद्धयोगशान्तिसमाधिभक्तीः पठेत्। तत्र 'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं नमः' इत्यनेन मंत्रेण एकविंशतिवारान्, अष्टोत्तरशतवारान् वा जाप्यं दीयते।

अन्यच्च विस्तरेण लघुदीक्षाविधिः

अथ लघुदीक्षागृहीतृजनः (पुरुषः स्त्री वा) दातारं संस्थापयति। ततो दाता यथा योग्यमलंकृतं कृत्वा चैत्यालयं समानयेत्। देवं वन्दित्वा सर्वैः सह क्षमां कृत्वा गुरोरग्रे दीक्षां याचित्वा तदाज्ञया सौभाग्यवतीस्त्रीविहितस्वस्तिकोपरि श्वेतवस्त्रं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वाभिमुखः पर्यंकासनो गुरुश्चोत्तराभिमुखः (संघाष्टकं) संघं परिपृच्छ्य लोचं कुर्यात्। 'ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये शान्तिकराय सर्वविघ्नप्रणाशकाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्वक्षामडामरविनाशनाय 'ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असिआउसा अमुकस्य सर्वशान्तिं कुरु २ स्वाहा' अनेन मंत्रेण गन्धोदकादिकं त्रिवारं शिरसि निक्षिपेत्। शान्तिमंत्रेण गन्धोदकं त्रिःपरिषिच्य वामहस्तेन मस्तकं स्पृशेत्। ततो दध्यक्षत-गोमयभस्मदूर्वांकुरान् मस्तके वर्द्धमानमन्त्रेण निक्षिपेत्। 'ॐ णमो भयवदो वड्ढमाणस्से' त्यादि वर्धमानमंत्रः पूर्वं कथितः। लोचादिविधिं महाव्रतं विधाय सिद्धभक्तिं योगभक्तिं च पठित्वा व्रतं दद्यात्।

यथा—'दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्तेय ।
बंभारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥'

इत्यादि वारत्रयं पठित्वा व्याख्यां विधाय गुर्वावलिं पठेत् । ततः संयमाद्युपकरणं दद्यात् ।

ॐ णमो अरहंताणं । भो क्षुल्लक ! (क्षुल्लिके वा) षड्जीवनिकायरक्षणाय मार्दवादिगुणोपेतमिदं पिच्छोपकरणं गृहाण २ इत्यादि पूर्ववत् ज्ञानोपकरणं शौचोपकरणं च मंत्रं पठित्वा दद्यात् ।

इति लघुदीक्षाविधानं समाप्तम् ।

दीक्षानक्षत्राणि

प्रणम्य शिरसा वीरं जिनेन्द्रममलव्रतम् ।
दीक्षा-ऋक्षाणि वक्ष्यन्ते सतां शुभफलाप्तये ॥१॥
भरण्युत्तरफाल्गुन्यौ मघाचित्राविशाखिकाः ।
पूर्वाभाद्रपदाभानि रेवती मुनिदीक्षणे ॥२॥
रोहिणी चोत्तराषाढा उत्तराभद्रपत्तथा ।
स्वातिः कृत्तिकया सार्धं वर्ज्यंते मुनिदीक्षणे ॥३॥
अश्विनी पूर्वफाल्गुन्यौ हस्तस्वात्यनुराधिकाः ।
मूलं तथोत्तराषाढा श्रवणः शतभिषा तथा ॥४॥
उत्तराभाद्रपच्चापि दशेति विशदाशयाः ।
आर्यिकाणां व्रते योग्यान्युशन्ति शुभहेतवे ॥५॥
भरण्यां कृत्तिकायां च पुष्ये श्लेषार्द्रयोस्तथा ।
पुनर्वसौ च नो दद्युरार्यिकाव्रतमुत्तमाः ॥६॥
पूर्वाभाद्रपदा मूलं धनिष्ठा च विशाखिका ।
श्रवणश्चैषु दीक्ष्यन्ते क्षुल्लकाः शल्यवर्जिताः ॥७॥

इति दीक्षानक्षत्रपटलम्





सल्लेखना

सल्लेखना

इस संसार में जन्मजयन्तियां मनाने की प्रथा है। कांसे बजाकर नवागत शिशु का सत्कार किया जाता है और प्रतिवर्ष उस का जन्मदिन समारोहपूर्वक आयोजित किया जाता है। क्योंकि सभी जीवन से प्यार करते हैं। ज्ञानदर्शनचेतनायुक्त जीव कर्मविपाक से इस संसार में अनेक क्रीडाएं करता है और नाना रागसम्बन्धों की परम्परा में अपना नाम और जोड़ देता है। क्रीडा का समय कर्मपरिणामों ने निश्चित कर रखा है। जैसे स्कूल की घंटी बजते ही बालकों की छुट्टी हो जाती है वैसे ही आयु:कर्म शेष होने पर जीवात्मा शरीर से अलग हो जाता है। यह अलग होना सभी को अमंगल, दु:खप्रद और अप्रिय लगता है। क्रीडामग्न बालक के हाथ से खिलौना छीन लेने पर जैसे वह रो देता है और सोचता है, थोड़ा और खेल लेता तो अच्छा रहता; वैसे ही मुमूर्षु प्राणी कुछ और जीने की इच्छा करता है। उसका यह 'कुछ और' कभी न समाप्त होने वाला आग्रह है। वह संसार के आपातरम्य स्वर्णकुंज को छोड़कर नहीं जाना चाहता। यहां उसके कितने मित्र हैं, वर्षों परिश्रम करके सुखविलास के कितने वैभवों को उसने उपार्जित किया है? इन कुटुम्बीजनों को छोड़कर जाना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। यदि मनुष्य मृत्युजयी हो पाता तो यमद्वार के कपाटों को सदा के लिए बन्द कर देता। जीवन की यह प्यास स्वस्थ, सुन्दर, सांसारिक-सुविधा प्राप्त मानवों में ही नहीं है, रोगजराजर्जर विनाश के मरुस्थलों में भटकते हुए जीव भी जीवन की दुर्दमनीय तृषा से अतृप्त बाधित हैं। किन्तु 'बड़ा विकट यमघाट' यम का घाट बड़ा विकट है। काल के कराल गाल में जाने से कोई नहीं बच पाता। मनुष्य ने अपनी इसी विवशता का अनुभव कर कहा कि—

> अघटितघटितं घटयति
> सुघटितघटितं च जर्जरीकुरुते।
> विधिरेव तानि घटयति
> यानि नरो नैव चिन्तयति ॥'

मनुष्य जिस बात की कल्पना नहीं करता, वह हो जाती है और जिस बात की दृढ सम्भावना है वह असम्भव हो उठती है। मनुष्य के समक्ष अचिन्त्य परि-स्थितियां आती रहती हैं। भर्तृहरि ने कहा है—

'यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति
यच्चेतसापि न कृतं तदिहाभ्युपैति।
प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती
सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी॥'

प्रातःकाल जिसे राज्य मिलने वाला था, वह श्रीरामचन्द्र वनगामी हुए। अदृष्ट के विधान को कौन टाल सका है? जैसे जीवित शरीर के श्वासोच्छ्वास को रोकना कठिन है वैसे मृत देह में उन्हीं को लौटाना असम्भव है। नदी का प्रवाह और जीवन लौटकर नहीं आते। 'रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति' बीच कुए में जब रस्सी टूट गई तो उस घड़े को कौन थाम सकता है? इसीलिए विवेक के सूत्रों की रचना करने वालों ने कहा—

'मृत्योर्बिभेषि किं मूढ! न स भीतं विमुंचति।
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि॥'

जो जन्म मृत्यु से परे है उस मुक्तात्मा को यम स्पर्श नहीं कर सकता। जन्मी तो काल के भोग हैं। इस अनित्य भावना से ही मनुष्य संसार की असारता को जानकर इच्छामृत्यु का वरण कर सकता है। अन्यथा—

'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशंकवः॥

यह जीव जितने मनःप्रिय सम्बन्धों की स्थापना करता है उतने ही शोक के शंकु (कीलें) उसके हृदय में गड़ जाते हैं। यही जानकर 'चतुर चित्त त्यागी भये' और मुक्तिमार्ग पर चल पड़े। उन्होंने ही यम को चुनौती दी। स्वयं आगे होकर मृत्यु के द्वार खटखटाये। जिस मृत्यु को संसार ने त्रास माना, भयभीत हुआ; उसी की अनिवार्य उपस्थिति का श्रमण-मुनियों ने जीते जी स्वागत किया। किसी मराठी कवि ने इस 'सल्लेखना' के विषय में ही जैसे लिखा है—

'माझे मरण पाही येले डोला।
तो झाला सोहला अनुपम्य॥'

मैंने अपनी आँखों से अपनी मृत्यु को देख लिया। यह अनुपम महोत्सव है। अपनी मृत्यु को देख पाना असाधारण बात है। बिल्ली जब कबूतर पर झपटती है तो वह भय के मारे आँख मूंद लेता है। प्रत्येक मृत्यु-भीत प्राणी मरण वेला में आकुल हो उठता है। क्योंकि उसके लिए मृत्यु का अर्थ

है सम्बन्धियों का वियोग और समाधि मरण लेने वाले त्यागी के लिए मृत्यु एक सुनियोजित परिणाम है, रोगजराजर्जर जड़ शरीर के बन्धन से मुक्ति। एक में बलपूर्वक अलग किये जाने की भावना है और दूसरे में स्वेच्छा से त्याग है; अलग होने के संकल्प हैं। भावनाओं की भिन्नता से ही एक मृत्यु को शोक मान रहा है और दूसरा उसे महोत्सव जानता है। अनिवार्य को वीरता से सहन करना प्राणी का धर्म है। जब मृत्यु अवश्यंभावी है तो यह शोक, परिताप, रुदन कैसा? कौन है जो इससे बचा है? पं० दौलतरामजी 'छहढाला' में कहते हैं—

'सुर असुर खगाधिप जेते
मृग ज्यों हरि काल दले ते।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई
मरते न बचावे कोई ॥५।४

मृत्यु की इसी व्यापकता को जानकर श्रमणपरम्परा में 'सल्लेखना' का निरूपण किया गया है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र का वचन है कि—

'उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥'

उपसर्ग में, अकाल में, वृद्धावस्था में और प्रतीकाररहित रुग्णावस्था में धर्म के लिए शरीर का परित्याग करने की विधि को 'सल्लेखना' कहा गया है। 'सर्वार्थसिद्धि' कार ने 'सल्लेखना' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—'सम्यक्-कायकषायलेखना सल्लेखना' सम्यक्त्वपूर्वक काय और कषायों को जर्जर करना 'सल्लेखना' अर्थात् समाधिमरण है। क्योंकि 'कषायकर्षणं विना कायकर्षणस्य नष्फल्यम्' (सागारधर्मामृत) कषायों का लेखन किये बिना मात्र काय लेखन करना निष्फल है। समाधिमरण ही सच्ची सल्लेखना है। 'समाधि' का अर्थ है सम्यक्त्व-पूर्वक मन, वचन और काय का एकत्र सन्निपात अथवा ध्याता, ध्यान और ध्येय कि वा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी का निर्विकल्प लय। यह निर्विकल्प लय आत्मा की आत्मा में आत्मा द्वारा स्थिति है। यहां आत्मा ही प्रेरक है, आत्मा ही अधिष्ठान है और आत्मा ही विधेय है। यों कहना चाहिए कि रागादिपरिग्रहों से निर्मुक्त आत्मा अपने स्वरूपावबोध होने पर शरीर रूपी पर पदार्थ के सद्भाव से भी अपने को व्याविद्ध मानकर, जिस प्रकार सर्प केंचुली उतार देता है, उसी

प्रकार जीर्ण शरीर का परित्याग करने के लिए मारणान्तिक उपोषण लेता है। तत्वार्थ सूत्र ने 'सल्लेखना' की स्थिति का निरूपण करते हुए कहा है—'मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता।' सल्लेखना की समाप्ति मरणोत्तर ही होती है। यह मरण प्रीतिपूर्वक स्वीकार किया जाता है। सूत्र में 'जोषिता' क्रियापद इसी ओर संकेत करता है। व्याकरण में 'जुष' धातु का अर्थ प्रीति और सेवा दोनों है। अतः प्रीतिपूर्वक जिस व्रत की सेवा की जाए वही 'सल्लेखना' की सच्ची स्थिति है। यह समाधिमरण परम वैराग्यधारी तपस्वियों को शोभा देने वाला है। जैसे रहँट के शराव पर्याय से रिक्त होते रहते और भरते रहते हैं, उसी प्रकार यह जीव कर्मकूप में डूबता और रिक्त होता रहता है। खाली होते हुए शराव को जैसे अपने रिक्त होने पर दुःख नहीं होता उसी प्रकार स्वेच्छा से मनः पूर्वक काय से वियुक्त होते आत्मा को विरहानुभूति नहीं होती। दार्शनिकों ने इस मरण व्रत का बड़ा हृदयग्राही वर्णन किया है। जैसे कोई दुलहन (नवा वधू) डोले पर बैठ कर ससुराल जाती हो, ऐसे मुक्त होते हुए आत्मा का निरूपण किया है। वे कहते हैं—'सजनी! डोले पर हो जा सवार। लेने आ पहुँचे हैं कहार।' इस प्रकार आत्मा को 'सजनी' 'अरथी' को डोला और मृत्यु को 'कहार' कहकर परिणीता वधू की श्वसुरगृह यात्रा का आनन्द 'मरण' के साथ तन्मय कर दिया है। और क्यों न हो? जिन्होंने कर्मबन्ध परिणाम के साथ 'स्कन्ध' होते हुए जीवन को जान लिया है, उन्हें मोहान्धकार की घुटन कैसे अनुभूत हो सकती है?

सराय छोड़कर जाते मुसाफिर को, डाल से उड़ती चिड़िया को, पतझर में वृक्ष से अलग होते पत्तों को क्या कभी दुःख, अभाव और वियोग होता है? उदयकाल में जिस प्रभा के साथ सूर्य उठता है, डूबते समय क्या उसके बिम्ब पर कालिमा होती है? नहीं, वह उसी प्रभा से दीप्तिमान् रहकर अस्ताचल की ओट हो जाता है। खूंटे गाड़कर खेमे लगाने की आदत यायावरों को नहीं होती। क्योंकि गड़े हुए खूंटे देशस्थितिबन्ध का मोह उत्पन्न कर देते हैं। वीतराग मुनियों की दीक्षा दिगम्बरत्व से आरम्भ होती है और उनकी चर्या समाधिमरण में पर्यवसित होकर ही पूर्णता को प्राप्त होती है। इसीलिए साधु विधिपूर्वक मरणान्तक सल्लेखना करने का निश्चय सदैव हृदय में रखते हैं। निराकुलता से संसारबन्ध के समूलउच्छेदक समाधिमरण को साथ लेनेवाले ने मानो, आत्मा के धर्मसर्वस्व को अपना सहगामी बना लिया। सल्लेखनाविषयक इस आशय के दो पद्य इस प्रकार हैं—

'सल्लेखनां करिष्येऽहं विधिना मारणान्तिकीम्।
अवश्यमित्यदः शीलं सन्निदध्यात् सदा हृदि॥
सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मना।
समाधिमरणं येन भवविध्वंसि साधितम्॥'

रोते कलपते हुए तो यम के द्वार सभी पहुंचते हैं किन्तु आगे बढ़कर यमराज को आतिथ्य से सम्मानित करने वाले मृत्युंजय विरले ही हैं। उपनिषदों में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को कहा है कि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' संसार में जो वस्तु जिसे अच्छी लगती है वह वस्तु अच्छी है इस लिए प्रिय नहीं लगती, किन्तु उस वस्तु से आत्मा प्रसन्न होती है इसीलिए वह अच्छी (प्रिय) लगती है। अर्थात् प्राण ही सर्वोपरि प्रिय हैं और सारी वस्तुएं तथा स्त्री-पुत्र-धनादि प्राणों को प्रिय होने से ही प्रिय प्रतीत होते हैं। किसी बुद्धिमान बादशाह ने अपने दो विश्वासी नौकरों से पूछा कि बताओ, यदि हम सबकी 'डाढी' में आग लग जाए तो तुम क्या करोगे? एक ने उत्तर दिया हुजूर। मैं अपनी डाढी के जलने की परवाह न कर पहले आपकी 'डाढी' की आग बुझाऊंगा। किन्तु दूसरे ने कहा कि पहले मैं अपनी डाढी की आग शान्त करूंगा पीछे हुजूर की खिदमत करूंगा। बादशाह दूसरे की सचाई से प्रसन्न हुआ। वास्तव में संसार के समस्त प्राणी पहले अपना हित करेंगे तब दूसरे का। हित की सर्वोच्च स्थिति प्राण रक्षा में है और प्राणभय उपस्थित होने पर सभी कातर हो उठते हैं। समाधिमरण लेने वाले वीतराग तपस्वी इसीलिए लोकगुरु हैं और जिस भय से विश्व त्रस्त है, उसी का हंस कर स्वागत करते हैं। काल उनका दलन नहीं करता, वे स्वयं काल का मदमर्दन करने जा पहुँचते हैं। मुनि दिगम्बरत्व की उषा में विहार करता है, चारित्र के मध्याह्न-ताप में तप तपता है और सल्लेखना की सन्ध्या में कर्मकषाय क्षय कर मुक्त हो जाता है। आर्त-रौद्रध्यानरहित प्रशान्त सल्लेखना उसके सम्पूर्ण जीवन के तप, त्याग, ध्यान-सामायिक और निराकुलता की कसौटी है। जब तक शरीर नीरोग रहे, रुग्ण होने पर औषधोपचार से स्वस्थ होता रहे तब तक 'सल्लेखना' के लिए आग्रह नहीं रखना चाहिए। आयुःकर्म अवशेष रहते हुए भी यदि 'समाधिमरण' के लिए त्यागी त्वरा करता है हो यह भी एक मूर्च्छा है, किन्तु आंख से दीखे नहीं, खड़ा होकर आहार लेने में पैर साथ नहीं दें, असाध्य रोग शरीर को घेर ले, उस समय शरीर से राग करते हुए 'सल्लेखना' न लेना भी बड़ी 'मूर्च्छा' है।

ऐसे समय में धर्म रक्षा के लिए, व्रतों के पालन के लिए, आत्मा को पतन से बचाने के लिए समाधिमरण' लेना धर्म है।

यह संसार भयस्थान है। पद पद पर यहां भय की स्थिति है। किसी नीतिकार ने कहा है कि—

'भयस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥'

मूढ मनुष्य को प्रतिदिन सहस्रों भय आकुल करते हैं और सैंकड़ों शोक आते रहते हैं किन्तु विवेकशील मनुष्य भय और शोक से परे होता है। सम्यग्दृष्टि का निरूपण करते हुए उसे सात प्रकार के भयों से रहित बताया गया है। लक्षण में कहा है कि—'इहलोकपरलोकाकस्मिकानुरक्षावेदनामरणागुप्तिभयविप्रमुक्तः सम्यग्दृष्टिः।' सम्यग्दृष्टि वह है जो इहलोकभय, परलोकभय, आकस्मिक भय, अनुरक्षा भय, वेदना भय, मरण भय और अगुप्ति भय इन सात भयों से सर्वथा मुक्त हो। वैसे ये सभी भय हैं किन्तु 'मरणभय' सर्वोपरि है। क्योंकि 'प्राणच्छेद-मुद हरन्ति मरणम्' प्राणों के उच्छेद को मरण कहा है। जिसकी मृत्यु हो जाती है उसके लिए उसी क्षण सृष्टि का प्रलय हो जाता है। 'आप मरा, युग प्रलय' यह लोकोक्ति है। इस मरणभय को जीतने के लिए ही त्यागमार्ग स्वीकार किया जाता है। इसमें विषय-कषायों और परिग्रहों का त्याग ही सम्मिलित नहीं है, हर्ष तथा भय का भी त्याग है। यदि हर्ष और भय बना रहा तो त्याग का उदासीन मार्ग सिद्ध नहीं कहा जा सकता। इसीलिए त्यागमार्गी को ध्यान सूत्रों और बारह अनुप्रेक्षाओं का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए। क्योंकि, इस मन का कोई भरोसा नहीं। यह पल-पल में बदलता रहता है। किसी दाता ने किसी को कुछ देना चाहा। लेनेवाले ने कहा अभी अपने पास रहने दीजिए, फिर ले लूंगा। दाता बोला–भई! अभी ले लो। इस दातव्य को दूसरे हाथ में लेते लेते न जाने, मेरा मन ही बदल जाए। ऐसा है यह मन। यदि मृत्युवेला आने पर इसे ध्यानसूत्र हृदयंगम कराना चाहोगे तो कुछ न बनेगा। अतः अहर्निश द्वादशानुप्रेक्षा भाते रहो। इस शरीर और इन्द्रियों के विषय इन्द्रधनुष और विद्युच्छाया के समान अनित्य हैं, जन्म, जरा, मरण, रोग आदि दुःखों के समूहों ने सिंह जैसे मृग-शावक को पकड़ लेता है, वैसे प्राणियों को दबोच रखा है, यह जीव कभी पुत्र बनकर और कभी पिता होकर संसारभ्रमण करता रहता है, दुःखों और सुखों को वह आत्मा एकाकी अनुभव करता है, यह ज्ञानवान् जीव इन्द्रियमय काय से पृथक्

है, मांस, मज्जा, रुधिर आदि सप्त अशुचि पदार्थों से निर्मित यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है, इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियाएं नदी के निरवच्छिन्न प्रवाह के समान निरन्तर आस्रवबन्ध करती रहती हैं, कर्मों का संवर हो जाने से जीव को दुःख नहीं होता, तप और परिषहजय से कर्म झर जाते हैं, लोक स्वभाव, आकार एवं इसका परिमाण चिन्तन करते रहने से तत्वज्ञान में विशुद्धता आती है, बोधि-दुर्लभ भावना से ही जीव प्रमत्तयोग से बच सकता है और वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित धर्म के स्वरूप का विचार करने पर मनुष्य को धर्म में गाढरुचि होती है। ये बारह अनुप्रेक्षाएं निर्वाण मार्ग को प्रशस्त करने वाली हैं। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि—

> 'मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बार अणुपेक्खा।
> परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं॥'
>
> —बारा अणुपेक्खा ८३.

अनादिकाल से आजतक जितने भी जीव सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं तथा आगे होंगे, वे सब इन बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करके ही निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। उन्हें बार बार विनयभक्ति से नमस्कार हो।

बारह अनुप्रेक्षाओं का यह चिन्तन एक कालावच्छेदेन नहीं किया जा सकता। जीवनभर की व्रत, उपवास, सामायिक, परिषहजयचर्या अन्तकाल में सहायिका होती हैं। जिसने इन्हें जीवन में सुलभ नहीं किया, वह सल्लेखना जैसे दुश्चर तप को साधने में सहसा समर्थ नहीं हो सकता। 'सल्लेखना' मरण बड़े सौभाग्य की बात है। आचार्य ने कहा है—

> 'गुरुमूले यतिनिचिते चैत्यसिद्धान्तवार्धिसद्घोषे।
> मम भवतु जन्मजन्मनि संन्यसनसमन्वितं मरणम्॥'

जहां मुनिसमुदाय से घिरे हुए गुरु विराजमान हों, वहां उनके चरणमूल में, जिनप्रतिमा के समीप, अथवा जहां सिद्धान्तसमुद्र के गम्भीर घोष हो रहे हों, ऐसे स्थान में मेरा जन्म जन्म में संन्यासहित मरण हो।

इस समाधिमरण में जो उत्तीर्ण हो जाए उसे परीक्षोत्तीर्ण छात्र के समान पूरे अंक मिलने चाहिए। क्योंकि वर्ष भर पढने वाला छात्र ही परीक्षा के समय स्थिरमति रह सकता है और प्रसन्नता तथा उत्साह से अपने प्रश्नपत्र के उत्तर लिखता है जो अकृताध्ययन है वह तो प्रश्नपत्र मिलते ही विचलित हो जाता है। लेखनी कांपने लगती है और प्रश्नों की पंक्तियां पहाड़ हो जाती है। कहते हैं,

'युद्धस्य वार्ता रम्या' युद्ध की बातें रमणीय होती हैं। किन्तु युद्ध रमणीय नहीं होता। इसी प्रकार 'सल्लेखना' का हृदयग्राही वर्णन करने में विद्वान् अपनी बुद्धि का कौशल व्यक्त कर सकते हैं. कथाकार सिंह का मृगया विहार लिख सकते हैं, 'प्लेटफार्म' पर खड़े होकर युद्ध के रोमहर्षण आख्यान सुना सकते हैं किन्तु स्वयं जब अनुभव करते हैं तब इन दूर से रमणीय लगने वाले पर्वतों के आरोहण कितने विषम, कंटीले और दुरारोह लगते हैं, यह कोई भुक्तभोगी ही बता सकता है ! 'सल्लेखना' कोई 'पिकनिक' का 'प्रोग्राम' नहीं है, किसी मनोरंजक नाट्य की रंगावतारणा नहीं है, यह तो वज्र के चने हैं, जिन्हें दृढसंकल्प के सुमेरुओं से दला जा सकता है।

कुछ अविदिततत्व व्यक्ति 'सल्लेखना' को आत्महत्या के समान मानते हैं। किन्तु ऐसी मान्यता अविवेकियों की ही हो सकती है। क्योंकि, 'आत्महत्या' शब्द में आत्मा का वध है और 'सल्लेखना' में आत्मा का चिरजीवन है, उत्कर्ष है। आत्महत्या करने वाला किसी न किसी राग, द्वेष, मोह से अभिनिविष्ट होता है और आवेग में आकर तुरन्त कूए में छलांग लगा लेता है, विष खा लेता है; शस्त्र से, गलपाश से, अग्निप्रवेश से, पर्वत शिखर से खड्ड में गिरकर, किसी निर्झर प्रपात में आत्मा को नष्ट करने को आकुल होकर अपना विनाश कर लेता है, और इससे निश्चय वह स्ववधपातकी होता है। किन्तु 'सल्लेखना' के मूल में तो 'सत्' विद्यमान है। वहां असद् भावों से आक्रान्त होकर आत्मविनाश नहीं किया जाता अपितु व्रतों में दोष न आवे और मुनिचर्या में अशक्त शरीर के परिणाम अविशुद्ध न हों, इसलिए काय और कषायों का जर्जरीकरण 'समाधिमरण' का हेतु है। शास्त्रकारों ने कहा है—'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' प्रमत्तयोग से प्राणों का वध हिंसा है और सल्लेखनाधारी के रागादि कषायों का नितान्त अभाव होता है अतः प्रमादयोग नहीं है। इस संसार में प्राण सब को प्रिय हैं किन्तु प्राणों से भी प्रिय व्रत हैं, जिनके लिए ही व्रती जीवन धारण करते हैं। जहां अव्रती व्यक्ति आहार-पान के विवेक को त्यागकर मद्य-मधु-मांस सेवन करके भी शरीर को बचाना चाहता है, वहां व्रती अपने शरीर को नश्वर जानकर उसका त्याग करना तो सहन कर लेता है किन्तु व्रतों का त्याग नहीं करता।

इस प्रकार त्यागी व्रतरक्षापर्यन्त अपना शरीर धारण करता है और लम्बे मरुस्थलों को पार करते समय ऊंट का पेट चीरकर पानी पीने वाले अरबों के समान अपने शरीर को सर्वस्व नहीं मानता।

[illegible] पुद्गलवादी जीवन की निर्वाणता में विश्वास करते [illegible] [illegible] [illegible] हो सकते हैं कि शरीर के लिए सभी कुछ, [illegible] कर दें ? कभी नहीं। भौतिकवादियों के लिए यह शरीर ही सर्वस्व है, वहां आत्मवादियों के लिए आत्मा ही सर्वस्व है। भौतिकवादी दुर्बलता के लिए अपनी जीवन बिता सकते हैं किन्तु आत्मवादी आत्मा की हानि सहन कर जीवित रहने की स्पृहा कभी नहीं करता। 'सल्लेखना' व्रत तभी लिया जाता है जब सम्यक्त्व की हानि सम्भावित हो या व्रतों में दूषण आने की शंका हो। अपने आजन्मविशुद्ध त्यागतपोमय जीवन में किसी प्रकार का भी कलंक अथवा दोषपात हो, यह उच्चकोटि के धर्मानुप्राणित जीवन जीने वालों को कभी स्वीकार नहीं हो सकता।

'सल्लेखना' के समय परिणामों की विशुद्धता पर पूर्ण सावधानी रखना आवश्यक है। किसी प्रकार की लोकवासना, कषायपरिणति अथवा तपोभंगविकार-विचारणाएं उस समय नहीं आनी चाहिए। '[illegible]' में लिखा है कि मृत्यु समय के परिणाम भवान्तर में साथ जाते हैं। जैसे 'हेमसेन' पके हुए ककड़ीफल में कीड़ा हुआ और 'जिनदत्त' अपनी स्त्री के प्रति आर्तध्यानी होने से 'मेंढक' हुआ[1]। क्योंकि, 'यथा मतिस्तथा गतिः' जैसी मति वैसी गति।

समाधिग्रहीता को चिन्तन करना चाहिए कि मेरी मृत्यु नहीं हो सकती, फिर भय कैसा ? मुझे कोई रोग नहीं, फिर पीड़ा कैसी ? न मैं बालक हूं, न वृद्ध और न युवा। यह सब तो पुद्गल का खेल है[2]। इस प्रकार जन्म, जरा, मरण, सुख, दुःख, लाभ, अलाभ, संयोग, वियोग, सभी स्थितियों में समता धारण कर समाधिपरायण होना चाहिए[3]।

---

१. 'मरणे या मतिर्यस्य सा गतिर्भवति ध्रुवम्।
यथाऽभूद् [illegible] [illegible] कृमिः॥
[illegible] या मतिर्यस्य सा गतिर्भवति ध्रुवम्।
[illegible] [illegible] [illegible]॥'

२. न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले॥

३. [illegible] [illegible] [illegible] च।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]॥

'मृत्युमहोत्सव' मनाने वाले सुकृती को चेतना के अन्तिम क्षण तक स्वरूप-स्थिति और परिणामविशुद्धि के लिए निम्नलिखित 'समाधिसंप्तदशी' का अर्थ-चिन्तनपूर्वक ध्यान करना चाहिए—

'मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य वीतरागो ददातु मे ।
समाधिबोधिपाथेयं यावन् मुक्तिपुरी पुरः[१] ॥ १ ॥
कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपंजरे ।
भज्यमाने न भेतव्यं यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः[२] ॥ २ ॥
ज्ञानिन् ! भयं भवेत् कस्मात् प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे ।
स्वरूपस्थः पुरं याति देही देहान्तरस्थितिः[३] ॥ ३ ॥
सुदत्तं प्राप्यते यस्माद् दृश्यते पूर्वसत्तमैः ।
भुज्यते स्वर्भवं सौख्यं मृत्योर्भीतिः कुतः सताम्[४] ॥४॥
आगर्भाद् दुःखसन्तप्तः प्रक्षिप्तो देहपंजरे ।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन मृत्युभूमिपतिं विना[५] ॥५॥

---

१. मैं (समाधिमरण द्वारा) मृत्युमार्ग में प्रवृत्त हुआ हूं । इस मार्ग को निरन्तराय पार कर सकूं इसके लिए भगवान् वीतराग देव समाधि (स्वरूप के प्रति सावधानी) और बोधि (रत्नत्रयलाभ) तथा परलोक पथ में उपकारक पाथेय प्रदान करें जिससे मैं मुक्तिपुरी को पहुंच सकूं ।

२. हे आत्मन् ! शत–शत कृमियों से भरा हुआ, जर्जर यह शरीर रूपी पिंजरा टूट रहा है, इस पर तुम भयभीत न हो । क्यों कि तुम ज्ञानशरीरधारी हो । यह पौद्गलिक शरीर तुम नहीं हो ।

३. हे ज्ञानी आत्मन् ! मृत्युमहोत्सव के उपस्थित होने पर तुम किस बात का भय करते हो ? यह आत्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता हुआ एक देह से दूसरे देह में जाता है । इसमें घबराने की कौनसी बात है ?

४. पूर्वकाल के ऋषि और गणधर आदि सत्पुरुष ऐसा कहते हैं कि अपने किये हुए कर्तव्य का, चारित्र का फल तो मृत्यु होने पर ही पाया जाता है । स्वर्ग सुखों का भोग भी मृत्यु के अनन्तर ही मिलता है । उस मृत्यु से सत्पुरुषों को भय क्या ?

५. ज्ञानी पुरुष विचारता है कि इस कर्मरिपु ने मेरे आत्मा को देहपिंजरे में बन्दी बना रखा है । जिस समय से यह गर्भ में आया है उसी क्षण से क्षुधा, तृषा, रोग, वियोग आदि दुःखों ने इसे घेर रखा है । इस बन्धनग्रस्त आत्मा को मृत्यु राजा के सिवा कौन मुक्त कर सकता है ?

सर्वदुःखप्रदं पिण्डं दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः ।
मृत्युमित्रप्रसादेन प्राप्यन्ते सुखसम्पदः[६] ॥६॥
मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो न साधितः ।
निमग्नो जन्मजम्बाले स पश्चात् किं करिष्यति[७] ॥७॥
जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः ।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा[८] ॥८॥
सुखं दुःखं सदा वेत्ति देहस्थश्च स्वयं व्रजेत् ।
मृत्युभीतिस्तदा कस्य जायते परमार्थतः[९] ॥९॥
संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम्[१०] ॥१०॥
पुराधीशो यदा याति सुकृतस्य बुभुत्सया ।
तदासौ वार्यते केन प्रपंचैः पाञ्चभौतिकैः[११] ॥११॥
मृत्युकाले सतां दुःखं यद् भवेद् व्याधिसम्भवम् ।
देहमोहविनाशाय मन्ये शिवसुखाय च[१२] ॥१२॥

---

६. आत्मदर्शी लोग सम्पूर्ण दुःखों को देने वाले इस देहपिण्ड को दूर करके मृत्यु रूपी मित्र की कृपा से सुखसम्पदाओं को प्राप्त करते हैं ।

७. जिस जीव ने मृत्यु रूपी कल्प द्रुम प्राप्त करके भी अपने कल्याण की सिद्धि नही का वह संसार समुद्र में डूबने के बाद क्या कर सकता है ?

८. ज्ञानी पुरुष उस मृत्यु को साता कर्म का उदय मानता है जिस की कृपा से जीर्ण, शीर्ण शरीर छूटकर नवीन शरीर मिलता है ।

९. यह आत्मा देह में रहकर सुख तथा दुख का सदैव अनुभव करता है और स्वयं ही परलोक गमन करता है । तब परमार्थदृष्टि से मृत्यु का भय किसे हो ?

१०. जिन जीवों का चित्त संसार में आसक्तिमान् है वे अपने रूप को नही जानते इसीलिए उन्हें मृत्यु भयप्रद होती है । किन्तु जो महान् आत्माएं आत्मस्वरूप को जानती हैं और वैराग्यधर हैं उनके लिए तो मृत्यु आनन्दप्रद है ।

११. इस जीव का आयु पूर्ण होने पर जब परलोक सम्बन्धी आयु का उदय आ जाए तब परलोक गमन करने से शरीरादि पंचभूतात्मक समूह में से कौन इसको प्रतिबन्ध कर सकता है ?

१२. मृत्यु के अवसर पर कर्म के उदय से रोगादि दुःख उत्पन्न होते हैं । वे व्याधिजन्य दुःख ज्ञानवान् व्यक्तियों के लिए देह पर से मोहनिवारण करने हेतु हैं और निर्वाणसुख प्राप्त कराने के लिए हैं ।

ज्ञानिनोऽमृतसंगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन् ।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन् भवेत् पाकविधिर्यथा[१३] ॥१३॥
यत् फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात् ।
तत् फलं सुखसाध्यं स्यात् मृत्युकाले समाधिना[१४] ॥१४॥
अनार्तः शान्तिमान् मर्त्यो न तिर्यग् नापि नारकः ।
धर्मध्यानपरो मर्त्योऽनशनी त्वमरेश्वरः[१५] ॥१५॥
तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना[१६] ॥१६॥
अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरिति हि जनवादः ।
चिरतरशरीरनाशे नवतरलाभे च किं भीरुः[१७] ॥१७॥

---

१३. यद्यपि मृत्यु तापकारी है तथापि ज्ञानी उसे अमृत (मोक्ष) की संगति के लिए कारण मानते हैं। जो कच्चा घड़ा है वह भी अग्निसंस्कार करने पर ही पक्व होता है और अमृत (जल) की संगति के उपयुक्त बनता है।

१४. उत्तम व्रतों के कष्ट सहन करने के पश्चात् जिस फल की प्राप्ति होती है वह फल मृत्यु के अवसर पर 'समाधिमरण' स्वीकार करने वाले को सुख से (अनायास) प्राप्त हो जाता है।

१५. मरण दशा को प्राप्त होते हुए जो सत्पुरुष आर्तपरिणामों से रहित होता है, शान्तिमान् रहता है वह जीव तिर्यंच अथवा नारक गति में नहीं जाता और जो धर्मध्यानपरायण अनशनव्रत (सल्लेखना) लेकर शरीर त्याग करे वह स्वर्ग लोक में इन्द्र अथवा महर्द्धिक देव होता है।

१६. तप का ताप भोगना, व्रत का पालन करना और श्रुत का पठन करना—इन सब का फल समाधि से मृत्यु प्राप्त करना है।

१७. संसार में प्रवाद है कि जो अतिपरिचित है उसमें अवज्ञा बुद्धि हो जाती है तथा नवीन में प्रीति अधिक होती है। यह शरीर भी वर्षों पुराना, शिथिल, जर्जर हो गया है, इसके नाश होने पर ही नवीन देह मिलेगा, ऐसा मानकर भय क्यों किया जाए ? अर्थात् जीर्ण को त्यागने और नवीन को प्राप्त करने के लिए उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए। दुर्गतिदायक अशुभ कर्मबन्ध नहीं लगने चाहिए।